

मानतुंगाचार्य और उनके स्तोत्र

संपादक

मधुसूदन ढांकी : जितेन्द्र शाह



शारदाबेन चिमनभाई एज्युकेशनल रिसर्च सेन्टर
अहमदाबाद-४

मानतुंगाचार्य और उनके स्तोत्र

मधुसूदन ढांकी : जितेन्द्र शाह

प्रकाशक

शारदाबेन चिमनभाई एज्युकेशनल रिसर्च सेन्टर
अहमदाबाद

श्री श्वेताम्बर मूर्तिपूजक जैन बोर्डिंग ग्रन्थमाला-१३

मानतुंगाचार्य और उनके स्तोत्र

•

संपादक

मधुसूदन ढाँकी - जितेन्द्र शाह.

•

प्रकाशक

शारदाबेन चिमनभाई एज्युकेशनल रिसर्च सेन्टर,
'दर्शन', शाहीबाग, अहमदाबाद - ३८० ००४.

© शारदाबेन चिमनभाई एज्युकेशनल रिसर्च सेन्टर, अहमदाबाद.

•

प्रथमावृत्ति : ई० स० १९९७, प्रतियाँ : ५००

द्वितीयावृत्ति : ई० स० १९९९, प्रतियाँ : २५०

•

मूल्य : १५०/- रु०

•

प्राप्तिस्थान :

शारदाबेन चिमनभाई एज्युकेशनल रिसर्च सेन्टर,
'दर्शन', शाहीबाग, अहमदाबाद - ३८० ००४.

•

मुद्रक :

पूजा ओफ़सेट, अहमदाबाद.





भक्तामरस्तोत्र

के

आदिम अन्वेषक श्रीमद् हॅरमान्न यकॉबी महत्तर

की

पुण्य स्मृति

को

सादर समर्पित

अनुक्रम

प्रकाशकीय	अजय चिमनभाई	६
पूर्वावलोकन	डा० जगदीशचन्द्र जैन	७-९
पुरोवचन	पं० दलसुख मालवणिया	१०
प्रास्ताविक (प्रथमावृत्ति)	मधुसूदन ढांकी : जितेन्द्र शाह	११-१३
प्रस्तावना (द्वितीयावृत्ति)	मधुसूदन ढांकी : जितेन्द्र शाह	१३

१. भूमिका	१-१४
२. भक्तामरस्तोत्र के सर्जक एवं सर्जनकथा	१५-२२
३. भक्तामर की पद्यसंख्या	२३-६९
४. भक्तामर का आंतरदर्शन	७०-७८
५. भयहरस्तोत्र	७९-८३
६. भक्तामर एवं भयहर के अष्टमहाभय	८४-९३
७. स्तोत्रकर्ता का समय	९४-१०१
८. स्तोत्रकर्ता का सम्प्रदाय	१०२-११०
परिशिष्ट	१११-११२
मूलपाठाः	
भक्तामरस्तोत्रम्	११३-१२०
भक्तामरगत पाठान्तराणि	१२१-१२२
भयहरस्तोत्रम् अपरनाम 'नमिऊण' स्तोत्रम्	१२३-१२६
सन्दर्भग्रन्थ-सूची	१२७-१३५

प्रकाशकीय

जैन धर्म में भक्तामर स्तोत्र अत्यन्त प्रचलित है । जैनों के सभी संप्रदाय समान रूप से इस स्तोत्र को स्वीकार करते हैं एवं पाठ-स्मरण करते हैं । स्तोत्र की भाषा, शैली, भाव आदि उत्तम प्रकार के हैं । यही कारण है कि जैन धर्म में यह स्तोत्र सर्वजनमान्य हुआ । भक्तामर स्तोत्र पर अब तक अनेक पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी हैं और अनेक विद्वानों ने इस स्तोत्र पर अनुसंधानात्मक अध्ययन भी किया है, तथापि निष्पक्ष एवं सर्वांगीण विचार प्रायः अभी तक नहीं हुआ था ! इस कमी को पूरी करने का प्रयास इस पुस्तक में किया गया है । प्रस्तुत पुस्तक में भक्तामर स्तोत्र का आंतरदर्शन, पद्यसंख्या, कर्ता, कर्ता का संप्रदाय, समय, अष्टमहाभय, एवं कर्ता की एक अन्य कृति भयहरस्तोत्र आदि विषयों पर सप्रमाण, सयुक्तिक एवं सोदाहरण चिंतन किया गया है । अतः प्रस्तुत ग्रन्थ का प्रकाशन कर विद्वज्जगत् को समर्पित करते हुए हमें अपार हर्ष हो रहा है ।

भक्तामर स्तोत्र का संपादन एवं उस पर विस्तृत खोजपूर्ण विवेचन प्रा० मधुसूदन ढांकी [शोध निदेशक, अमेरिकन इन्स्टिट्यूट ऑफ इन्डियन स्टडीज, गुहगाँव] एवं डा० जितेन्द्र शाह [अवैतनिक निदेशक, शारदाबेन चिमनभाई एज्युकेशनल रिसर्च सेन्टर, अहमदाबाद] ने किया है । प्रा० ढांकी स्थापत्य एवं कला के मूर्धन्य विद्वान् होने के साथ-साथ जैन ऐतिहासिक शोध में भी निष्णात हैं । डा० जितेन्द्र शाह, जैन धर्म और दर्शन के युवा विद्वान् एवं चिंतक हैं । दोनों ने उपलब्ध सभी प्रमाणों एवं विवेचनों के आधार पर समीक्षात्मक अन्वेषण करके प्रस्तुत ग्रन्थ तैयार किया है । प्रस्तुत ग्रन्थ तैयार कर प्रकाशनार्थ संस्थान को दिया गया; अतः संस्थान इन दोनों विद्वानों का आभारी है । जैनदर्शन के अद्वितीय विद्वान्, महामनीषी पं० दलसुखभाई मालवणियाजी ने पुरोवचन लिखकर हमारे उत्साह में अभिवृद्धि की है; अतः हम आपके प्रति हृदय से आभार ज्ञापित करते हैं । आगम एवं दर्शन के ख्यातनाम विद्वान्, डा० जगदीशचंद्रजी ने भी संपादकों के अनुरोध से पूर्वावलोकन लिखने का कष्ट किया; अतः हम आपके विशेष आभारी हैं । (दुर्भाग्यवश वह यह ग्रन्थ पूर्णरूप से प्रकाशित हो जाय तत् पूर्व विदा ले चुके हैं ।) ग्रन्थ की प्रथमावृत्ति के प्रकाशन में नारणपुरा स्थित आदिनाथ जैन श्वे० मूर्तिपूजक संघ ने आर्थिक सहयोग प्रदान किया था, हम उक्त संघ एवं संघ के संचालकों के आभारी हैं ।

ग्रन्थ के लॅसर अक्षरांकन में रमेशभाई पटेल ने उत्साहपूर्वक सहयोग दिया है, एतदर्थ उन्हें हम सहृदय साधुवाद देते हैं ।

आशा है, यह ग्रन्थ शोधात्मक एवं तुलनात्मक अध्ययन कर रहे अध्येताओं एवं जिज्ञासुओं के लिए उपयुक्त सिद्ध होगा ।

‘दर्शन’, शाहीबाग.

अहमदाबाद - ३८०००४

१४-०७-१९९३.

अजय चिमनभाई

(अध्यक्ष)

शारदाबेन चिमनभाई एज्युकेशनल रिसर्च सेन्टर

पूर्वावलोकन

भारतीय दर्शन की जान है वाद । 'वादे वादे जायते तत्त्वबोधः', अर्थात् वाद-विवाद से हम तत्त्वज्ञान की ओर पहुँचते हैं । वाद-विवाद का अर्थ है विचारों का टकराव । विचारों का यह टकराव तब पैदा होता है जब किसी विषय को लेकर हमारे मन में कोई शंका पैदा होती है या कोई समस्या उठती है । सर्वप्रथम वादी अपने पक्ष के समर्थन में दलील पेश करता है, किसी विषय को लेकर उसके मन में सन्देह पैदा होता है । विपक्ष प्रतिवादी इन दलीलों को काटता है, उनका खंडन करता है । उसके बाद दोनों पक्षों की परीक्षा द्वारा वस्तु का निर्णय किया जाता है जिसे समन्वय कहते हैं । यूनानी मनीषियों ने भी विचार-विमर्श की इस शैली को स्वीकार किया है । वे लोग डायलौग्स अर्थात् वार्तालाप द्वारा किसी विषय की चर्चा करते हैं, प्रश्न किये जाते हैं, उनके उत्तर प्रदान होते हैं और इस प्रकार किसी वस्तु की परीक्षा द्वारा विषय का निर्णय किया जाता है । विषय की परीक्षा किये बिना उसका निर्णय नहीं किया जा सकता । और जब तक किसी विषय को लेकर उसमें सन्देह पैदा न हो, कोई समस्या न उठे तब तक उसकी परीक्षा करने की आवश्यकता नहीं । परीक्षा करना ही दर्शन (अर्थात् देखना) की शुरुआत है । इस प्रकार हम देखते हैं कि सन्देह सर्व प्रमुख है, जब तक किसी बात में सन्देह पैदा न हो तब तक पक्ष और विपक्ष के प्रतिपादन से उसे परीक्षा की कसौटी पर कसने की आवश्यकता का सवाल ही नहीं उठता ।

प्रतिज्ञा, हेतु, दृष्टान्त, उपनय (अन्वय) और निगमन (व्यतिरेक) इसी विचार प्रणाली का विस्तृत रूप है । वैदिक धर्मानुयायियों के मतानुसार ईश्वर के अस्तित्व में जो कार्य-कारण भाव मूलक प्रमाण दिया जाता है, उसका यही स्वरूप है: पृथ्वी, पर्वत आदि किसी बुद्धिमान कर्ता द्वारा निर्मित हैं (प्रतिज्ञा); कार्य होने से (हेतु); जो कार्य होते हैं वे किसी बुद्धिमान कर्ता द्वारा निर्मित होते हैं, जैसे घर (दृष्टान्त), पृथ्वी, पर्वत आदि कार्य हैं, अतएव वे किसी कर्ता द्वारा निर्मित हैं (उपनय), जो कार्य नहीं वे किसी कर्ता द्वारा निर्मित नहीं, जैसे आकाश (निगमन) ।

इस प्रकार न्यायसूत्रों के रचयिता गौतम ऋषि और न्यायसूत्रों के प्रथम भाष्यकार वात्स्यायन का न्यायदर्शन के क्षेत्र में यह महत्वपूर्ण योगदान है जो उन्होंने प्रमाण, प्रमेय, संशय, प्रयोजन, दृष्टान्त, सिद्धांत, अवयव, तर्क, निर्णय, वाद, जल्प, वितंडा, हेत्वाभास, छल, जाति और निग्रहस्थान इन १६ पदार्थों के ज्ञान को प्रमुखता दी है ।

शोधकर्ता का कार्य बहुत गहन है, खांडे की धार पर चलने की भाँति वह दुष्कर है । उसके लिये किसी बात का प्रतिपादन करने में तरतमता की गुंजायश नहीं । जैसी वस्तु हो उसका उसी रूप में प्रतिपादन करना—न कम, न ज्यादा—गुड्डे-गुड्डियों का खेल नहीं । प्रतिपादन कर्ता को तटस्थ रहकर

अन्वेषण करना पड़ता है, भावुकता और भावनाप्रधान चिन्तन को दूर रखकर उसे कठोर सत्य और सीधे सादे सरल चिन्तन को स्वीकार करना पड़ता है । सुखद कल्पना और इच्छाजनित धारणाओं के प्रलोभनों के जाल में वह नहीं फँसता ।

मानतुंगाचार्य और उनके स्तोत्र नामक ग्रन्थ जिसका संपादन विद्वद्भ्यं प्रा० मधुसूदन ढांकी और डा० जितेन्द्र शाह ने किया है और जिसका प्रकाशन शारदाबेन चिमनभाई एज्युकेशनल रिसर्च सेन्टर, अहमदाबाद की ओर से किया गया है, पाठकों के समक्ष है । विद्वान् संपादकों ने अति परिश्रमपूर्वक प्रास्ताविक, भूमिका, भक्तामरस्तोत्र के सर्जक एवं सर्जन कथा, भक्तामर की पद्य संख्या, भक्तामर का अंतरदर्शन, भयहरस्तोत्र, भक्तामर एवं भयहर के अष्टमहाभय, स्तोत्रकर्ता का समय, स्तोत्रकर्ता का संप्रदाय, परिशिष्ट और संदर्भ ग्रन्थ-सूची— इन अनेक विभागों में ग्रन्थ को विभक्त किया है । अंत में भक्तामरस्तोत्र और भयहरस्तोत्र (नमिऊण स्तोत्र) प्राकृत में (संस्कृत छाया के साथ) प्रस्तुत किया गया है । हमारा विश्वास है कि विज्ञ पाठक इस रचना का मनोयोगपूर्वक अध्ययन कर अपने विचारों में दृढ़ता लायेंगे । हमारी राय में इस बात की अहमियत नहीं कि मूल कर्ता किस संप्रदाय के थे, अहमियत इस बात की है कि उनकी लेखनी से ऐसी सुफला एवं शाश्वत रचना का प्रादुर्भाव हुआ है जो केवल जैन संप्रदाय के अनुयायियों को ही नहीं, इतर संप्रदायों को मानने वालों को भी चिरकाल तक अनुप्राणित करती रहेगी ।

पुस्तक में कतिपय अक्षम्य अशुद्धियाँ रह गई हैं (जैसे हर्मण् आदि) । आशा है पुस्तक के दूसरे संस्करण में उनका संशोधन किया जा सकेगा । 'प्रास्ताविक' में कथन है: "इस ग्रन्थ में प्रयुक्त हिन्दी को सर्वथा संस्कृतप्रधान, एकांत संस्कृतनिष्ठ नहीं अपितु प्रायः राष्ट्रभाषा के आदर्शों के अनुरूप एवं अनुकूल स्वरूप देना चाहा था । इसलिये इसमें अरबी-फारसी अलफाज़ वर्जित नहीं माना है । जहाँ योग्य हिन्दी शब्द नहीं मिल पाये वहाँ कहीं-कहीं गुजराती एवं मराठी भाषा में प्रचलित शब्दों का भी इस्तेमाल किया है और कोष्ठक में उनका अंग्रेजी पर्याय बता दिया है । एकाध दृष्टांत में अंग्रेजी से भी शब्द यथातथ ग्रहण किया है" । जो कुछ भी हो, पुस्तक में जैसी चाहिये वैसी एकरूपता नहीं आ पाई और प्रवाह की गति से भी वह वंचित रह गई ।

१-११-१९९३

जगदीशचन्द्र जैन

१/६४, मलहार को-आपरेटिव हाउसिंग सोसायटी,
बान्द्रा रिकलेमेशन, बान्द्रा पश्चिम, मुंबई- ४०००५०

संपादक की टिप्पणी

दुर्भाग्यवश डाक्टर साहब को जल्दबाजी में कॉम्प्यूटर से निकाला गया पहला मुसद्दा ही पूर्वावलोकन लिखने के लिए भेज दिया गया, और उसमें काफ़ी गलतियाँ थी ही, जो बाद के प्रूफ में सुधार दी गयी

थी। “हर्मण्” ऐसी विवर्तनी स्वयं यकोबी महोदय की ही बताइ गई थी ऐसा (स्व०) ही० र० कापड़ीया का अवलोकन के प्रति हमने डाक्टर साहब का ध्यान खींच दिया था । कुछ माह पूर्व हमने डा० बंसीधर भट्ट, जो जर्मनी में कई सालों तक म्युन्स्टर विश्वविद्यालय में प्राध्यापक रह चुके है, उन्होंने हमें ‘हॅरमन्न’ रूप सूचित किया था । अतएव हमने अब इस रूप का प्रयोग किया है । ठीक इसी तरह प्रथमावृत्ति में ‘यकोबी’ रूप था, इसको वहाँ की उच्चारण प्रथा अनुसार ‘याकोबी’ रूप स्वीकार किया है । दूसरी बात यह की हमारी इच्छा संविधान में राष्ट्रभाषा सम्बन्ध जो निदेशक प्रावधान है, उसके अनुसार चलना था, किसी प्रान्तविशेष की क्षेत्रीय, अत्यधिक एवं केवल संस्कृतमय, हिन्दी का अनुसरण करना नहीं चाहते थे । डाक्टर साहब खुदने ‘अहमियत’ जैसे शब्द का यहाँ प्रयोग किया ही है । एक बात और भी कहना चाहेंगे । हम अपने को निग्रन्थ-दर्शन का अनुयायी मानते हैं, किसी संप्रदाय-विशेष का पक्षधर नहीं । अतः हमने जो कुछ कहा है वह प्रमाणों के आधार तटस्थ रह कर कहा है ।

पुरोवचन

ईश्वर के तीन रूप हैं—कर्ता, संहारक और संरक्षक । इनमें से जैनों ने प्रथम दो को कभी नहीं अपनाया । तीसरे रूप के विषय में भी देखा जाय तो भगवान् महावीर की सर्वप्रथम जो स्तुति सूत्रकृतांग के छठे अध्ययन में 'वीरत्थुती' के नाम से है उसमें तीनों रूपों का अभाव है तथा उनके स्थान पर ज्ञान, दर्शन और शील इन तीन गुणों की स्तुति की गई है । उसके बाद व्याख्याप्रज्ञप्ति के 'नमोत्थु नं' तथा आवश्यक सूत्र के 'लोगस्स' स्तव में ईश्वर के प्रथम दो रूपों के विषय में कोई स्तुति नहीं मिलती है किन्तु उनसे बोधि एवं सिद्धि लाभ की कामना की गई है । इसमें ईश्वर के तीसरे रूप संरक्षकत्व का समर्थन किया गया है । भक्तामर स्तोत्र में भी ज्ञान, दर्शन और शील की प्रशंसा तो की ही गई है तदुपरांत ईश्वर के संरक्षणात्मक रूप की विशेष रूप से स्तुति की गई है । उसके बाद की जैन स्तुतियों में भी इस रूप का समर्थन प्रचुर मात्रा में दिखाई देता है ।

शारदाबेन चिमनभाई एज्युकेशनल रिसर्च सेन्टर ने भक्तामर एवं नमिउणस्तोत्र का (संस्कृत छाया के साथ) प्रकाशन किया है, यह एक स्तुत्य प्रयत्न है । इस संस्करण की विशेषता, इसमें भक्तामर के जो विस्तृत भूमिकारूपेण आठ प्रकरणे दिये गये है, वह है । भूमिका संपादकों ने लिखी है और इस स्तोत्र के विषय में जितने भी विवाद अभी तक प्रकाशित हुए हैं, इन विवादों का सही समाधान देने का प्रयास वहाँ किया गया है । विवाद का जो मुख्य विषय है, वह एक है कि भक्तामर के रचयिता श्वेताम्बर थे या दिगम्बर, मूल स्तोत्र की श्लोक संख्या ४४ है या ४८ तथा कृति को श्वेताम्बर माना जाय या दिगम्बर । इन सभी समस्याओं का उचित समाधान करने का प्रयत्न यहाँ किया गया है और आज तक उपर्युक्त विवादों के पक्ष या विपक्ष में जो युक्तियाँ दी गई हैं, उन पर विचार करके समाधान यह दिया है कि कवि मानतुंग किस सम्प्रदाय के थे, मूल स्तोत्र कितने पद्यों का था और कृति किस सम्प्रदाय के विशेष अनुरूप है, और कर्ता मानतुंगाचार्य का क्या समय रहा होगा । इस मन्तव्य के समर्थन में जो युक्तियाँ दी गई हैं, वे जचती हैं । विद्वज्जगत् इन समस्याओं के विषय में विचार करे और सही निर्णय पर पहुँचे यही अपेक्षा है ।

ता० २०-६-१९९३

दलसुख मालवणिया
'माथुरी' ८, ओपेरा सोसायटी,
पालडी, अहमदाबाद - ३८० ००७.

प्रास्ताविक

निर्ग्रन्थ महापुरुषों और उनकी रची हुई कृतियों का साधार, सतर्क एवं प्रामाणिक समयनिर्णय, और जहाँ-जहाँ कर्ता के मूल सम्प्रदाय को लेकर अनिश्चितता या विवाद रहा हो, योग्य निर्णय हो जाना निर्ग्रन्थ साहित्य के इतिहास-आलेखन में बहुत ही आवश्यक है। कुछ वर्षों से हमारा प्रयत्न ऐसे प्रश्नों के प्रमाणाधीन उत्तर खोजने की दिशा में रहा है। कुछ ऐसी ही समस्याएँ मानतुंगाचार्य एवं उनकी सुप्रसिद्ध कृति भक्तामरस्तोत्र के बारे में रही हैं, जिन पर इस पुस्तक में विशेष विचार किया जायेगा।

भक्तामरस्तोत्र, इसके सर्जक, सर्जनकाल एवं सम्प्रदाय के सम्बन्ध में साम्प्रत काल में बहुत कुछ लिखा गया है। कुछ विद्वानों ने स्तोत्र के अनुवाद, अर्थमीमांसा एवं रसदर्शन के अतिरिक्त ऐतिहासिक दृष्टिकोण से भी लिखा है। इस प्रकार के लेखन में कुछ न कुछ नई एवं महत्वपूर्ण बातें समाविष्ट हुई हैं, जिनका हमने अपनी समीक्षा में सादर-साभार उपयोग किया है। साथ ही कुछ बातें वहाँ ऐसी भी देखने को मिलती हैं जो या तो अज्ञानमूलक आग्रह का प्रतीक मात्र अथवा साम्प्रदायिक विवशता की पकड़ ही प्रकट करती हैं। वे प्रमाणपरक या न्यायसंगत नहीं हैं। तथ्यान्वेषण के अभाव वाले इन दोनों प्रकार के अभिगम के परिणामस्वरूप इतिहास विकृत तो हुआ ही, साथ ही उस हिसाब से चलने वाले सभी लोग यथार्थता का रास्ता छोड़कर गुमराह भी हुए हैं। कहीं-कहीं तो अभिगम की एकांगिता के अलावा लेखन भी कुत्सित बन गया है। इससे किसी भी तटस्थ विद्वान को संतोष नहीं हो सकता, रंजोगम जरूर होता है। इस सोचनीय स्थिति से निपटने का प्रयत्न यहाँ किया जाता है, और सभी मुद्रित मंतव्यों एवं उपलब्ध प्रमाणों (तथा प्रमाणाभासों) के परीक्षणोपरान्त जो कुछ निष्कर्ष निकल सका है, यहाँ रखा गया है। इस प्रक्रिया में हमने लेखकों के मूल विधानों को, सन्दर्भ के औचित्य एवं आवश्यकतानुसार, यथातथ उद्धृत भी किया है, जिससे उनके आशय समझने में मदद मिले और उनके वक्तव्यों, मंतव्यों एवं अभिप्रायों के साथ अन्याय होने की संभावना कम से कम रहे। (गुजराती भाषा के लेखन जहाँ-जहाँ उद्धृत हैं, हिन्दी में अनूदित करके रखे गये हैं, जिससे गुजराती न समझने वाले पाठक आसानी से मूल कर्ता का अभिप्राय समझ सकें।) इस गवेषणा के फलस्वरूप जो नतीजा निकल सका है वह आखिरी है ऐसा नहीं कहा जा सकता; विशेष प्रतीतिकर तथ्य सामने न आने तक ही उसको हम ठीक समझते हैं। जिस वक्त इससे विपरीत नये एवं मजबूत सबूत मिल जायेंगे, हम निर्णय बदल देंगे। (समालोचना में विनय एवं विवेक का त्याग न हो जाय इस बात का ध्यान रखा गया था; फिर भी पूरे लेखन के पुनरवलोकन के पश्चात् हमें लगा है कि कहीं-कहीं ध्वनि में व्यंग्य एवं आक्रोश की पतली सी छाया आ ही गई है। हम इस घटना के लिये क्षमाप्रार्थी हैं।)

हमने यहाँ केवल भक्तामरस्तोत्र तथा भयहरस्तोत्र को ही मानतुंगाचार्य की मौलिक कृतियाँ

माना है, उनकी मानी जानेवाली अन्य कृतियों को नहीं। भक्तामर का हिन्दी एवं गुजराती अनुवाद बहुत सारे विद्वानों द्वारा किया जा चुका है, जो विविध प्रकाशनों में, कहीं-कहीं सान्वय भी उपलब्ध है। लेकिन इनमें से कुछ में कहीं-कहीं, कभी-कभी, मूलकर्ता के अभिप्राय से बढ़कर, प्रायः वृत्तिकार जैसी हैसियत से भी लिखा गया है। पद्यों का सान्वय 'पंचांग विवरण' भक्तामर सम्बद्ध कुछ पुस्तिकाओं में दिया गया है, जो उपयुक्त होने से वहीं देख लेना चाहिए। हाँ! भयहरस्तोत्र के मूल प्राकृत पद्यों का छायां रूप एवं समान्तर (parallel) संस्कृत पद्यों को दो अलग-अलग मध्यकालीन वृत्तिकारों के आधार पर हमने यहाँ समाविष्ट अवश्य किया है। (इसका एक हेतु यह भी रहा है कि वह स्तोत्र भी मानतुंग का बनाया हुआ है, इस परम्परा की कुछ हद तक स्पष्टता एवं परीक्षण भी उसकी शैली एवं शब्दों के लगाव-चुनाव के आधार पर हो सके; और यह तथ्य तो वर्तमान सन्दर्भ में प्राकृत से भी संस्कृत रूप में विशेष सरलता से देखा जा सकता है।)

सम्प्रति पुस्तक में जो कुछ प्राचीन मूल स्रोतों एवं सांप्रतकालीन लेखनों का उपयोग किया है उनके लेखकों तथा प्रकाशकों के हम कृतज्ञ हैं। मुद्रण-योग्य नकल बनाने में मूल मसौदे को हिन्दी भाषा के व्याकरण एवं अक्षरी, विवर्तनी, और कहीं कहीं शब्दों की दृष्टि से मित्रवर रामेश्वर शर्मा, डा० उमेशचन्द्र सिंह और उनके अनुज डा० इन्द्रेशचन्द्र सिंह, वाराणसी में देख चुके थे और यहाँ पं० मृगेन्द्रनाथ झा भी सावधानी से देख चुके हैं। उनके योग्य संशोधनों को, चर्चा-विचारणा के पश्चात्, हमने यहाँ स्वीकार किया है। इस ग्रन्थ में प्रयुक्त हिन्दी को सर्वथा संस्कृतप्रधान, एकान्त संस्कृतनिष्ठ नहीं अपितु राष्ट्रभाषा के आदर्शों के अनुरूप एवं अनुकूल स्वरूप देना चाहा था, इसलिए इसमें अरबी-फारसी अल्फाज़ वर्जित नहीं माना है। जहाँ योग्य हिन्दी शब्द नहीं मिल पाये वहाँ (और अर्थच्छाया को विशेष स्पष्ट बनाने के लिये) कहीं-कहीं गुजराती एवं मराठी भाषा में प्रचलित शब्दों का भी इस्तेमाल किया है और कोष्ठक में इनका अंग्रेजी पर्याय बता दिया है। एकाध दृष्टांत में अंग्रेजी से भी शब्द यथातथ ग्रहण किया है। हमारी बिनती को स्वीकार कर के इस पुस्तक के लिए डा० जगदीशचन्द्र जी ने "पूर्वावलोकन" एवं पं० दलसुख मालवणिया जी ने "पुरोवचन" लिखा है। निर्ग्रन्थविद्या के इन दोनों मूर्धन्य विद्वानों के हम कृतज्ञ हैं।

इस पुस्तक की प्रथम पांडुलिपि पश्चिमी नागरी के हिसाब से श्रीमती गीतांजलि ढांकी ने तैयार की थी, जिसके आधार पर उत्तर प्रदेश की नागरी में डा० इन्द्रेशचन्द्र सिंह ने सुंदर अक्षरों में दूसरी प्रतिलिपि तैयार की। हम इन दोनों के परिश्रम के लिए आभारी हैं एवं लिपि-लेखन में शुद्धि के पहलु पर दिये गये लक्ष्य के लिये उनको धन्यवाद भी देना चाहते हैं। शारदाबेन चिमनभाई एज्युकेशनल रिसर्च सेन्टर के कोम्प्युटरविद् श्री रमेशभाई पटेल (और द्वितीयावृत्ति के सन्दर्भ में सुदेश शाह) ने मुद्रणार्थ नकल बनाई और प्रुफ-रीडर नारणभाई पटेल एवं पं० मृगेन्द्रनाथ झा द्वारा छपे हुए पूरे पाठ को आखरी वक्त

ध्यानपूर्वक देखा गया है । इन दोनों विद्वानों की मदद के लिये हम आभारी हैं । अपनी ओर से काफ़ी ध्यानपूर्वक, व्यवस्थित एवं रमणीय ढंग से जिन्होंने छपाई सिद्ध की है, वे Unique Offset अहमदाबाद, उसके लिए साधुवाद के पात्र हैं ।

मुद्रित रूप में यह पुस्तक साकार नहीं बन सकती थी, न चारु रूप से छप सकती थी, यदि श्री आदिनाथ श्वेताम्बर मूर्तिपूजक जैन संघ, नारणपुरा, अहमदाबाद तथा शारदाबेन चिमनभाई एज्युकेशनल रिसर्च सेन्टर, 'दर्शन', शाहीबाग, अहमदाबाद की ओर से इसके प्रकाशन (प्रथमावृत्ति) के लिए उदारता से आर्थिक सहायता न मिली होती । हम दोनों संस्थाओं एवं उनकी विश्वासिकाओं-न्यास (Trusts)- और उनके संचालकों के ऋणी हैं । पुस्तक की प्रथमावृत्ति का वितरण निःशुल्क करना, ऐसा निर्णय भी उनके सौजन्य एवं औदार्य का द्योतक है ।

हमें खेद है कि अनेक वैयक्तिक कारणों और संयोगों से प्रथम प्रकाशन का पूर्णरूप में छपकर वितरण में प्रायः चार साल का विलम्ब हुआ है । दुर्भाग्यवश, यह हमारे वश की बात नहीं थी ।

मधुसूदन ढांकी
जितेन्द्र शाह

प्रस्तावना (द्वितीयावृत्ति)

सामान्यतः द्वितीय संस्करण, प्रथम संस्करण के कुछ वर्ष बाद ही करने की आवश्यकता होती है । इनमें मुख्यतः प्रथम संस्करण में रह गये मुद्रण-अक्षरी-वाक्यविन्यास या तथ्यसम्बद्ध दोष को सुधारने का मौका मिलता है, किन्तु प्रथम संस्करण की मुद्रित प्रतियों के समाप्तप्रायः होने पर भी कुछ मित्र विक्रताओं से और नकलों की माँग आने के कारण प्रथमावृत्ति में कोई असाधारण फेर-फार के बिना दूसरा संस्करण प्रकाशित किया जा रहा है । अलबत्ता, कहीं कहीं थोडा बहुत सुधार एवं छोटे छोटे वर्धन जरूर किये गये हैं । श्री श्रीप्रकाश पाण्डेयने कुछ समय के लिये शा० चि० ए० रि० से० में काम किया था । उन्होंने प्रथम संपादक से बनारस में शिकायत की थी कि इस ग्रन्थ पर उन्होंने बहुत मेहनत की थी और उनका ऋणस्वीकार नहीं किया गया । उन्होंने प्रथम प्रूफ्स पढ़कर डा० जगदीशचन्द्र जी को पूर्वावलोकन लिखने के लिये संस्था से भेज दिया था । जिस पर डाक्टर साहब ने अपना प्रतिभाव पूर्वावलोकन में व्यक्त किया है । अतः श्री पाण्डेय की उपसहायता के लिये हम उपकृत हैं । ग्रन्थ में संलग्न दो चित्र अमेरिकन इन्स्टिट्यूट ऑफ इन्डियन स्टडीज, गुडगाँव के सौजन्य से यहाँ प्रकट किया है । उक्त संस्था के हम आभारी हैं । इस संस्करण को तैयार करने में पं० मृगेन्द्रनाथ झा, श्री नारणभाई, पं० बलभद्र प्रजापति, और लेसरांकन में सुदेश शाह एवं अखिलेश मिश्र की भी सहायता मिली है । अतः इनलोगों को हम साधुवाद देते हैं ।

संपादक

भूमिका

सिद्धसेन दिवाकर (प्रायः ईस्वी पंचम शती पूर्वार्ध)^१ एवं स्वामी समन्तभद्र (संभवतः ईस्वी ५५०-६२५)^२ निर्ग्रन्थ जगत् में आदिम एवं अप्रतिम स्तुतिकार होते हुए भी, उनकी अधिकतर कृतियाँ दुरूह होने के कारण केवल विद्वद्-भोग्या ही रह गईं; क्योंकि भक्तिरस और भावात्मकता की जगह उनमें जिनेन्द्र का विशेषकर बुद्धिजनित, दर्शनपरक एवं न्यायानुगामी गुणानुवाद केन्द्रस्थान पर विराजमान है^३। उपलब्ध निर्ग्रन्थ स्तुति-स्तव-स्तोत्रादि में यदि सर्वाधिक प्रिय, प्रचलित और संग ही सर्वांगसुष्ठु भी कोई हो तो वह है मानतुंगाचार्य की कालजयी रचना, भक्तामरस्तोत्र । निर्ग्रन्थ दर्शन में रचा गया यदि कोई एक ही उत्कृष्ट स्तोत्र चुनना हो तो पसंदगी उसकी ही हो सकती है । इतना सुप्रसिद्ध और सर्वप्रिय होने का कारण है उसकी अप्रतिम काव्य-सुषमा, निर्बाध प्रवाहिता, कर्णपेशल आन्दोलितत्व, और इन सब में प्राणरूप सत्त्वलक्षणा भक्ति जैसे उत्तमोत्तम गुणों की मौजूदगी । इन्हीं कारणों से वह एक ऐसी सर्वांगसुन्दर कृति बन गई है, जिसका मुकाबला नहीं हो सका, वरन् अनुकरण काफ़ी तादाद में हुआ। मध्यकाल की तो अनेक स्तुतिपरक निर्ग्रन्थ रचनाओं पर उसका प्रभाव छाया हुआ है^४ ।

वसंततिलका अपरनाम मधुमाधवी वृत्त में निबद्ध इस प्रसन्न-गम्भीर, भावोन्मेष-सभर एवं चेतोहर रचना का अपना विशिष्ट और अननुभूत छन्दोलय है । इस कारण प्रत्येक पद्य, और उसके अंगभूत हर एक चरण, हेमन्त ऋतु के प्रशान्त सागर पर उठती मन्द-मन्द तरंगावली का भास देता है^५ । इतना ही नहीं, काव्य-पठन क्षणों में गुम्बज के भीतर उठते प्रतिरव के समान अद्भुत प्रतिघोष भी सहसा प्रकट होता है और संग ही आह्लाद और उल्लास की सौख्यानुभूति का अनायास आविर्भाव हो जाता है । निर्ग्रन्थ-स्तोत्र-रत्न-मंजूषा में यूँ तो अनेक दीप्तिमान रत्न भरे पड़े हैं; परन्तु इसमें अभिजात गुम्फना, प्रसन्नकर पदविन्यास, और समुचित एवं स्वाभाविक अलंकारों से सजीली ऐसी सर्वगुणसम्पन्न कोई और स्तवनात्मक रचना नज़र नहीं आती ।

युगादीश्वर जिन ऋषभ के गुणस्तव स्वरूप इस अनन्य स्तोत्र की, निर्ग्रन्थ-दर्शन की दोनों विद्यमान परम्पराओं—श्वेताम्बर एवं दिगम्बर—में, करीब समान रूप से मान्यता है, और दोनों में वह उतना ही प्रतिष्ठाप्राप्त है । सदियों से वह स्तोत्र कंठस्थ किया जाता रहा है, और दोनों उसके रचयिता को अपने-अपने सम्प्रदाय का मानते हैं । इस मुद्दे को लेकर वर्तमान में काफ़ी बहस भी होती रही है। बहस एक और मुद्दे पर भी होती रही है : वह है स्तोत्र की पद्यसंख्या, जो श्वेताम्बर सम्प्रदाय में ४४ है और दिगम्बर में ४८ ।

इस सदाहरित, सुचारु, श्रुतिमधुर एवं ललित-गम्भीर स्तोत्र की मौलिक पद्यसंख्या, रचयिता मानतुंगाचार्य का संभवित समय, और उनके असली सम्प्रदाय के सम्बन्ध में ऐतिहासिक दृष्टि से विचार और ऊहापोह का प्रारम्भ खास करके जर्मन विद्वद्भिभूति हॅरमान्न यकॉबी^६, तत्पश्चात् वैदिक विद्वान् महामहोपाध्याय दुर्गाप्रसाद शास्त्री तथा वासुदेव लक्ष्मण पुणसिकर^७, दिगम्बर विद्वद्पुंगव पं० नाथूराम

प्रेमी^८, मुनिवर कल्याणविजय^९, श्वेताम्बर विद्वद्वर्य हीरालाल रसिकदास कापड़िया^{१०}, शोधक-प्रकाशक साराभाई मणिलाल नवाब^{११}, और उनके अतिरिक्त दिगम्बर पण्डितप्रवर अजीत कुमार जैन शास्त्री^{१२}; और अन्य श्वेताम्बर विद्वानों में श्रीमद् सागरानन्द सूरि^{१३}, मुनि दर्शनविजय^{१४}, मुनि त्रिपुटी^{१५}, मुनि चतुरविजय^{१६}, विद्वान् श्रेष्ठिवर अगरचन्द नाहटा^{१७}, और दिगम्बर विद्वद्गण जिनमें श्रीयुत् रतनलाल कटारिया^{१८}, डा० नेमिचन्द्र शास्त्री^{१९}, पं० अमृतलाल शास्त्री^{२०}, डा० गुलाबचन्द्र चौधरी^{२१}, और डा० ज्योतिप्रसाद जैन^{२२}, के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं। डा० ज्योतिप्रसाद जैन से छह साल पूर्व श्वेताम्बर विद्वान् पं० धीरजलाल टोकरशी शाह^{२३}, एवं वैदिक विद्वान् डा० रुद्रदेव त्रिपाठी^{२४} ने भी भक्तामर को लेकर उपयुक्त चर्चा की है। अब से कुछ ही साल पूर्व तन्त्रीप्रवर रमणलाल शाह द्वारा भी उपयुक्त ऊहापोह हुआ है^{२५}।

उपलब्ध वाङ्मय में मानतुंग के जीवन से सम्बद्ध कथा सबसे पहले श्वेताम्बर आम्नाय के राजगच्छ के प्रभाचन्द्राचार्य रचित प्रभावकचरित^{२६} (सं० १३३४ / ई० १२७७) में मिलती है। तत्पश्चात् उत्तर-मध्यकाल में नागेन्द्रगच्छीय मेरुतुंगाचार्य के प्रबन्धचिन्तामणि^{२७} (सं० १३६१ / ई० १३०५), रुद्रपल्लीयगच्छ के गुणाकर सूरि की भक्तामर-विवृत्ति^{२८} (सं० १४२६ / ई० १३७०) और प्रबन्धात्मक संकलन ग्रन्थ पुरातन-प्रबन्ध-संग्रह^{२९} के अन्तर्गत “मानतुंगाचार्य प्रबन्ध” (ई० १५ शताब्दी मध्यभाग) में उपलब्ध है। इसके अलावा तपागच्छीय मुनिसुन्दर सूरि की गुर्वावली^{३०} (सं० १४६६ / ई० १४१०) जैसी पट्टावल्यात्मक कृतियाँ और तपागच्छीय शुभशील गणि का भक्तामरमाहात्म्य^{३१} (१५वीं शती तृतीय चरण) जैसी अन्य श्वेताम्बर रचनाओं में भी इस विषय में यथावकाश संक्षिप्त या विस्तार से उल्लेख या कथात्मक विवरण हुए हैं।

इस स्तोत्र पर उत्तर-मध्यकाल में १७वीं शताब्दी तक की अनेक वृत्तियाँ तथा अवचूर्णात्मक एवं महिमापरक रचनाएँ भी प्राप्त हैं। पहले दिगम्बर आम्नाय से प्राप्त ऐसी रचनाएँ, उनके ज्ञात-अज्ञात कर्ता एवं रचना-काल सहित, प्रथम तालिकामें प्रस्तुत की जाती हैं : (देखिए तालिका क्रमांक १)।

इन उत्तर-मध्यकालीन दिगम्बर कर्ताओं के अतिरिक्त १९वीं शती में भट्टारक सुरेन्द्रभूषण की एक और पं० शिवचन्द्र की भक्तामरस्तोत्र-टीका इत्यादि अन्य भी रचनाएँ हुई हैं। ठीक इसी तरह श्वेताम्बर सम्प्रदाय से भी बड़ी संख्या में वृत्तिटीकादि साहित्य प्राप्त हुए हैं, जो यहाँ द्वितीय तालिका में प्रदर्शित हैं। इनके अतिरिक्त प्रा० कापड़िया ने कीर्ति गणि, चन्द्रकीर्ति सूरि और हरितिलक गणि की ऐसी ही रचनाएँ होने का जिक्र तो किया है^{३२}, पर उनके समयादि का पता नहीं हो सका। ये सब प्रायः १६वीं-१७वीं शताब्दी के कर्ता रहे होंगे। (इनमें से चन्द्रकीर्ति यदि नागोरी तपागच्छ से सम्बद्ध होंगे तो समय १६वीं शती आखिरी चरण और खरतरगच्छीय होंगे तो १७वीं शती पूर्वार्ध रहेगा।)

भक्तामरस्तोत्र के एक चरण को पादपूर्ति या समस्यापूर्ति के रूप में रखकर भी कई रचनाएँ बंधी हुई हैं। दिगम्बर सम्प्रदाय में “नेमि भक्तामर” नामक सिंहसंघ के धर्मसिंह सूरिशिष्य रत्नसिंह सूरि की ऐसी, एक हृदयंगम रचना उपलब्ध है जिसको श्रीमान् ज्योतिप्रसाद जैन ई० १२वीं-१३वीं शताब्दी जितनी पुरानी मानते हैं^{३३}; पर इस नतीजे पर पहुँचने का कोई ठोस प्रमाण उन्होंने पेश नहीं किया है।

स्तोत्र की शैली तो मुगल युग के अच्छे संस्कृत लिखने वाले कवि-पंडितों जैसी है । इसलिए इसकी प्रति कितनी पुरानी मिलती है वह भी देखना जरूरी है । एक बात और यह भी है कि यदि वह १२वीं-१३वीं शती जितनी पुरानी रचना है, तो उत्तर-मध्यकाल में (जिस वक्त भक्तामर को लेकर अनेक रचनाएँ हुई थीं) क्यों ऐसी कोई और रचना दिगम्बर सम्प्रदाय में नहीं हुई ? (ठीक यही रचना श्वेताम्बर सम्प्रदाय में संघहर्षशिष्य धर्मसिंह सूरि के शिष्य रत्नसिंह की मानी जाती है, पर वह कृति ४८ पद्यों वाले भक्तामर को लेकर है, इस कारण वह मूलतः दिगम्बर होना संभावित है । परन्तु श्वेताम्बर उसके चार विशेष पद्यों को प्रक्षिप्त मानते हैं, ऐसी कापड़िया महोदय ने टिप्पणी की है^{३४}; पर यह बात विचारणीय है ।)

दूसरी ओर श्वेताम्बर सम्प्रदाय में मल्लिषेण का एक भक्तामरस्तोत्र-छायास्तव मिलता है । यदि वह स्याद्वादमंजरीकार नागेन्द्रगच्छीय मल्लिषेण का हो (और उनके सिवा और तो कोई मल्लिषेण नामक मुनि श्वेताम्बर परम्परा में है नहीं !) तो वह स्तव ईस्वी १३ वीं शताब्दी के अन्तिम वर्षों का हो सकता है ।

श्वेताम्बर सम्प्रदाय में पादपूर्तिरूप रचनाएँ उत्तर मध्ययुग में बहुत सी हुई हैं । इसकी सूची हम यहाँ प्रा० कापड़िया की दी हुई सूचियों एवं कुछ अन्य साधनों के आधार पर तालिका क्रमांक ३ में पेश कर रहे हैं ।

उवसगगहरथोत्त जैसे स्तोत्रों की तरह भक्तामरस्तोत्र को भी कम से कम १४ वें शतक से मन्त्रयुक्त होना माना जाता था ऐसा अन्दाज़ा गुणाकर सूरि की वृत्ति में निदर्शित मन्त्राम्नायों में से निकल सकता है । बाद में यह प्रवृत्ति बढ़ती ही चली गई और आज तो श्वेताम्बर-दिगम्बर भंडारों में तथा व्यक्तिगत संग्रहों में भक्तामर सम्बद्ध अनेक मन्त्र-तन्त्र युक्त पोथियाँ मिलती हैं । इस सन्दर्भ में विद्यावारिधि ज्योतिप्रसाद जैन का अवलोकन यहाँ उद्धृत करना उपयुक्त होगा । “दिगम्बराचार्य प्रभाचन्द्र (११वीं शती) ने इस स्तोत्र को “महाव्याधिनाशक” बताया तो श्वेताम्बराचार्य प्रभाचन्द्र सूरि (१३वीं शती) ने इसे “सर्वोपद्रवहर्ता” बताया । वस्तुतः यह स्तोत्र मान्त्रिक शक्ति से अद्भुतरूप में सम्पन्न है । इसके प्रत्येक पद्य के साथ एक-एक ऋद्धि, मंत्र-यंत्र एवं माहात्म्य सूचक आख्यान सम्बद्ध हैं ।”^{३५} लेकिन कटारिया महानुभाव का विश्वास है कि “भट्टारकादिकों ने इस सरल और वीतराग स्तोत्र को भी मंत्रतंत्रादि और उनकी कथाओं के जाल से गूँथकर जटिल और सराग बना दिया है.... ।”^{३६} दुर्गाप्रसाद शास्त्री का भी कहना है : “कैश्चन टीकाकारैः प्रतिश्लोकं मन्त्रस्तत्प्रभावकथा च लिखितास्ति । ते च मन्त्रास्तत्तपद्येभ्यः कथं निर्गता इति त एव जानन्ति । मन्त्रशास्त्रीत्या तु तेभ्यः श्लोकेभ्यस्तेषां मन्त्राणामुद्धारो दुष्कर एव ।”^{३७}

ऐसा लगता है कि तीर्थंकर के नामस्मरण से ‘अष्टमहाभय’ दूर होते हैं ऐसी कल्पना को लेकर स्तोत्र में आठ पद्य सन्निविष्ट होने से इसको उत्तर-मध्यकाल में मन्त्रगर्भित मान लिया गया । बाद में तो स्तोत्र के प्रत्येक पद्य के लिए यन्त्र बनाकर, मूलकर्ता के सीधे एवं निर्दोष आशय की अवहेलना करके, स्तोत्र पर भीषण रूप से मान्त्रिक-तान्त्रिक बलात्कार किया गया । परम सात्त्विक निर्ग्रन्थ दर्शन के लिए मान्त्रिक-तान्त्रिक क्रिया अघोर एवं अकल्प्य तो है ही, साथ ही सावद्य एवं उत्सूत्र-प्रवृत्ति होने के कारण वह सर्वथा निषिद्ध भी है ।

भक्तामर वस्तुतया परमोदात्त, भक्तिरस से ओतप्रोत, एवं आत्मोन्नतिपरक रचना है । उसमें कहीं भी भौतिक लालसाओं को संभूत करने का कीमिया न तो प्रकट न ही छिपे रूप में रखा गया है, न ही वहाँ ऐहिक एषणाओं की तृप्ति का कोई तरीका बताया गया है ! उसमें तो प्रशमरसदीप्त, ध्यानस्थ, प्रशान्तमूर्ति वीतराग के समान बनने की कामना ही केन्द्रस्थ है । यथा :

नात्यद्भुतं भुवनभूषण ! भूतनाथ !
 भूतैर्गुणैर्भुवि भवन्तमभिष्टुवन्तः ।
 तुल्या भवन्ति भवतो ननु तेन किं वा !
 भूत्याश्रितं य इह नात्मसमं करोति ॥

विशेषकर गुप्तयुग पश्चात् भारत में चारों ओर, करीब सर्व धर्म-सम्प्रदायों में फैल गये मंत्रतंत्रवाद से निर्ग्रन्थ धर्म भी अछूता न रह सका । उस ज़माने की तासीर को देखकर, अपने अस्तित्व को टिकाने के खातिर यदि उसने मन्त्र-तन्त्र को अपनाया हो तो भी सैद्धान्तिक, दार्शनिक एवं आध्यात्मिक दृष्टि से उसका कोई समर्थन नहीं मिलता ।

यहाँ इस मुद्दे पर कुछ और विचार करना आवश्यक है । निर्ग्रन्थ दर्शन में विशेषकर अनुगुप्त-काल से उत्तर की परम्परा में चैत्यवास, और दक्षिण की परिपाटी में मठवास का प्रादुर्भाव हुआ । उत्तर वाले निर्ग्रन्थ-गण यूँ तो आगमों के अच्छे ज्ञाता एवं संरक्षक रहे हैं, और आगमिक व्याख्याओं का भी उन्होंने विपुल प्रमाण में सर्जन किया; फिर भी वे शिथिलाचार में क्रमशः काफ़ी हद तक प्रवृत्त हो गए थे । विज्ञाओं-विद्याओं-सिद्धियों की, और उनके कारण मान्त्रिक उपासना की ओर झुकाव तो उत्तरापथ के निर्ग्रन्थों में गुप्तकाल से, संभवतः उससे भी पहले, शुरू हो गया था । उस युग में हुए आचार्य आर्य खपट को संघदास गणि क्षमाश्रमण के बृहत्कल्पभाष्य (ईस्वी ६ठी शती मध्यभाग) में “विद्याबलि” कहा गया है, एवं उनके विद्या-सामर्थ्य सम्बद्ध विवरणात्मक कथाएँ मध्यकालीन श्वेताम्बर साहित्य में पुरानी अनुश्रुतियों के आधार पर ११वीं-१२वीं शताब्दी से मिलती हैं ।

मन्त्रवाद का प्रवेश तो इस तरह प्राचीन काल में हो गया था, किन्तु तन्त्र का प्रवेश प्राक्मध्यकाल से ही हुआ । आर्य शय्यंभव (वा आर्य स्वायम्भूव) के माने जाते दशवैकालिक सूत्र के प्रायः ईसा पूर्व द्वितीय शताब्दी वाले हिस्से में “आचार प्रणिधी अध्ययन” में मुनियों के लिए नख्खत किंवा नक्षत्र (ज्योतिष), सुमिन (सुपिन, स्वप्न), जोग (योगविद्या), निमित्त (अष्टांग निमित्त के आधार पर भविष्य कथन), मंत (मन्त्र) और भेसज (भैषज्य) का प्रयोग निषिद्ध बताया गया है । यथा :

नख्खतं सुमिनं जोगं निमित्तं मंत-भेसजं ।
 गिहिणो तं न आचिक्खे भूताधिकरणं पदं ॥

- दशवैकालिकसूत्र ८-५०

ठीक इसी तरह उत्तराध्ययनसूत्र के “महानिर्ग्रन्थीय अध्ययन” (प्रायः ईसा पूर्व की द्वितीय शती) के अन्तर्गत भी लक्खन (लक्षण, हस्तरेखा-शास्त्र), स्वप्न, निमित्त, कुतर्क, विद्या (जादू), और स्त्री से निर्वाह करने वाले की शरण न लेने की अनुज्ञा है । यथा :

जे लक्खनं सुविनं पउंजमाने
निमित्त-कोउहल-संपगाढे ।
कुहेड-विज्जासव-दारजीवी
न गच्छती सरनं तम्मि काले ॥

- उत्तराध्ययनसूत्र (२०.४५)

इसी सूत्र के “स भिक्खु” अध्ययन के दो पद्यों में भी करीब-करीब इन्हीं विषयों को भिक्षु के लिए त्याज्य माना गया है । वहाँ कहा गया है कि छिन्नविद्या, स्वरशास्त्र, भौम (निमित्त का एक प्रकार), आकाशज्ञान, स्वप्नशास्त्र, लक्षणशास्त्र, यष्टिज्ञान, वास्तुविद्या, अंगविद्या और स्वर-विजयादि विद्याओं का उपजीवी न हो, वही भिक्षु है । तदतिरिक्त मन्त्र, मूलिका, वमन-विरेचनादि विविध प्रकार के वैदकीय चिकित्सादि व्यवसायों का त्यागी हो, वही भिक्षु है । यथा :

छिन्नं सरं भोम्मं अंतलिक्खं सुविनं लक्खन दंड वत्थुविज्जं ।
अंगवियारं सरस्स विजयं जे विज्जाहिं न जीवती स भिक्खु ॥
मंतं मूलं विविधं विज्जचितं वमन-विरेचन-धूम-नेत्त-सिनानं ।
आतुरे सरनं तिरिच्छियं च तं परिन्नाय परिव्वते स भिक्खु ॥

- उत्तराध्ययनसूत्र १५.७,८

इसिभासियाइं (ऋषिभाषितानि) भी बहुत प्राचीन, ईसा पूर्व की सदियों का ग्रन्थ है । वहाँ अर्हत् वारत्रक के मुख में निम्नोद्धृत पद्य रखा गया है, जिसका अर्थ है कि (मुनि को) लक्षण, स्वप्न, प्रहेलिका आदि का कथन करना श्रामण्य धर्म से विपरीत है, यथा :

जे लक्खन-सुविन-पहेलिगाओ आक्खातीयति च कुतूहलाओ ।
मद्दानातिं नरे पउंजते सामन्नस्स महन्तरं खु से ॥

- इसिभासियाइं २७-४

और इसी ग्रन्थ में अर्हत् इन्द्रनाग के उपदेश में विद्या, मन्त्रोपदेश, दूती-संप्रेषण, भाविभवकथनादि के सहारे जीना अविशुद्ध समझा गया है ।

विज्जा-मंतोपदसेहिं दूतीसंपेसनेहि वा ।
भावीभवोपदेसेहिं अविशुद्धं तु जीवति ॥

- इसिभासियाइं ४१-२०

इन सब में तन्त्र का उल्लेख नहीं मिलता, क्योंकि ये तीनों सूत्र-ग्रन्थ बहुत प्राचीन हैं; जबकि

तन्त्र का विभाव अनुगुप्तकाल और निर्ग्रन्थों में तो विशेषकर प्राकृमध्यकाल से सम्मूर्त हुआ था । परन्तु जहाँ विद्या एवं मन्त्रादि निषिद्ध हैं वहाँ तन्त्र की छूट तो दी ही नहीं जा सकती । वस्तुतया उपर्युक्त निषेधाज्ञाओं के संग तन्त्र का निषेध अपने आप अनुस्यूत बन जाता है, फलित हो जाता है । निर्ग्रन्थों के लिए इन थोथे मन्त्र-तन्त्रकी क्रियाएँ—तन्त्रमार्ग—वस्तुतः आत्मसाधन और मुक्तिमार्ग का प्रदर्शक बनना तो एक तरफ रहा, सैद्धान्तिक दृष्टि से संसारवृद्धि एवं भवभ्रमण का कारण तो निःशंक ही बन जाता है^{३०} । इस विषय में भक्तामर के अनुलक्षित ऐसे एक पहलू पर ऐतिहासिक दृष्टिकोण से आगे कुछ विचार किया जायेगा ।

टिप्पणियाँ :-

१. सिद्धसेन दिवाकर के समय के सम्बन्ध में विस्तार से उनकी “परात्मा द्वात्रिंशिका” आदि तीन स्तुतियों के पुनः संपादन के समय अभी तैयार हो रहा ग्रन्थ, श्रीबृहद् निर्ग्रन्थ स्तुतिमणिमंजूषा (प्रथम खण्ड) की गुजराती में लीखी गई “प्रस्तावना” के अंतर्गत कहा जायगा ।
२. स्वामी समन्तभद्र के समय सम्बद्ध चर्चा अहमदाबाद से प्रकाशित होनेवाले सामयिक निर्ग्रन्थ के तृतीयांक में प्रथम संपादक के “स्वामी समन्तभद्रनो समय” नामक गुजराती लेख में, देख सकते हैं ।
३. ये दोनों महास्तुतिकार दार्शनिक युग में हुए थे । स्वभाव से इनकी कृतियाँ दर्शनप्रवण रही हैं, फिर भी सिद्धसेन की परात्मा द्वात्रिंशिका और समन्तभद्र के स्वयम्भूस्तोत्र के कुछ पद्य उदात्त एवं काव्यगुणपूत हैं ।
४. कुमुदचन्द्राचार्य कृत कल्याणमंदिरस्तोत्रादि प्रसिद्ध हैं । इसके अलावा निम्नोद्धृत पद्य भी देखिए जो पृथक् पृथक् मध्यकालीन-उत्तरकालीन स्तुति-स्तोत्रों से लिया गया है जिन पर भक्तामर का प्रथम पद्य का प्रभाव स्पष्ट है । कुछ स्तुतिओं में देवताओं के समूह सम्बद्ध, तो कुछ में मात्र देवेन्द्र के लिए ही, उनके मुकुटमणिप्रभा तीर्थकर के चरणों को प्रकाशित करती है ।

अ) पञ्चपरमेष्टि स्तुति (पञ्चगुरुभक्ति; प्रायः ७वीं शती)

श्रीमदमरेन्द्रमुकुटप्रघटितमणि किरणवारिधाराभिः ।

प्रज्वलित पदयुगलान्प्रणमामि जिनेश्वरान्भवत्या ॥१॥

- हु० श्र० सि० पा०, पृ० १२८

आ) चैत्यस्तुति (चैत्यभक्ति; प्रायः ७वीं शती)

तदेतमेश्वर प्रचलमौलिमाला मणि-

स्फुरत्किरणचुम्बनीय चरणारविन्दद्वयम् ।

पुनातुभगवज्जिनेन्द्र तव रूपमधिकृतम्

जगत्कलमन्यतीर्थगुरुरूपदोषोदयैः ॥३६॥

- हु० श्र० सि० पा०, पृ० १५१

इ) बृहद्-शान्तिस्तव की प्रत के अन्त में ; (१०वीं शती)

श्रीमन्नम्रसुरासुरेन्द्रमुकुटप्रद्योतरत्नप्रभा ।
भास्वतपादनखेदवः प्रवचनांभोधरस्थायिनः ॥

ई) कुमारपाल कृत आत्मगर्हास्तोत्र (प्रायः ई० ११६०-११७०)

नम्राखिलाखण्डलमौलिरत्न
रश्मिच्छटापल्लवितांग्रिपीठ
विश्वस्त विश्वव्यसन प्रबन्ध
त्रिलोकवन्द्यो जयताज्जिनेन्द्र ॥१॥

- जै० स्तो० सं० भाग १, पृ० २७

उ) अज्ञात कर्तृक शत्रुंजय-चतुष्क (प्रायः १२वीं शती)

आनन्दनम्रकप्रत्रिदशपतिशिरः स्फारकोटीरकोटी-
प्रेङ्गन् माणिक्यमाला शुचिरुचिलहरी धौतपादारविन्दम् ।
आद्यं तीर्थाधिराजं भुवनभवभृतां कर्ममर्मापहारं
वन्दे शत्रुञ्जयाख्यं क्षितिधर कमलाकण्ठशृङ्गारहारम् ॥१॥

- स्तु० त० भाग २, पृ० १४१, १४२

ऊ) निर्नामक कर्तृक चतुर्विंशतिजिनस्तुति (प्रायः १४वीं-१५वीं शती)

आनन्दसुन्दर पुरन्दर नम्रमौलि
मौलिप्रभा समित(सहित) धौतपदारविन्दः
श्री नाभिवंशजलराशि निशीथिनीशः
श्रेयः श्रियं प्रथयतु प्रथमोजिनेशः ॥१॥

- स्तु० त० भाग ३, पृ० ३०२

ए) तपागच्छीय सोमसुंदरसूरि-शिष्य विरचित चतुर्विंशतिस्तोत्र (प्रायः ईस्वी १४२५-१४५०)

आनन्द नम्र सुरनायक नाभिजात
भक्ताङ्गि सङ्घटित दिव्यंकु नाभिजातः ॥
चित्तं ममेश ! भवभञ्जनाभिजाऽऽत ।
कस्त्वां शिवेच्छुरभिवाञ्छति नाभिजात ॥१॥

- स्तु० त० भाग २, पृ० १४१-१४२

ऐ) अज्ञात कर्तृक स्तुति (प्रायः १५वीं-१६वीं शताब्दी)

भक्तामरेन्द्र नत पङ्कजमुद्विकार
श्री वीतरागमजमामुदारतारम् ।
तीर्थेश्वरं स्वबलनिर्जितकर्मसारं
शान्तिं स्तुवे स्मरवितान विनाशकारम् ॥१॥

- स्तु० त० भाग ३, पृ० ८०

ओ) तपागच्छीय हेमहंस गणि स्तुति (प्रायः १५वाँ शतक)

नम्रामरेषु मणिमौलितटीषु येषां
पादाःसुखेन नखकोटि निशामटङ्कैः ।
सौवीं लिखन्ति नु जगद्विजयप्रशस्तिं
स्तोष्ये चतुःसहितविंशतिमर्हदस्तान् ॥१॥

- स्तु० त० भाग ३, पृ० २६६

औ) देवकुलपाटक-चिंतामणि-पार्श्वनाथ-स्तोत्र (प्रायः १५वीं शती मध्यभाग)

नमद्देवनागोन्द्रमन्दारमाला
मरन्दच्छटा धौतपादारविन्दं ।
परानन्द सन्दर्भ लक्ष्मीसनाथं
स्तुवे देव चिन्तामणि पार्श्वनाथम् ॥१॥

DCMBRI, P. 305

अं) ज्ञानभूषण कृत जिनस्तुति (प्रायः १६वीं शती ?)

नम्रामरेश्वर किरीटनिविष्टशोण-
रत्नप्रभापटलपाटलिताङ्घ्रिपीठाः ।
तीर्थेश्वराः शिवपुरीपथसार्थवाहाः
निःशेषवस्तु परमार्थविदो जयन्ति ॥१॥

- जै० स्तो० सं० भाग १, पृ० ५३

५. इस विषय पर प्रा० हीरालाल कापड़िया का मत हम आगे प्रस्तुत करेंगे ।

६. Hermann Jacobi, *Indische Studien*, 14, 1876, p. 359 pp.1. इसके अलावा उनकी "Foreword", **भक्तामरकल्याणमंदिरनमिउणस्तोत्रत्रयम्**, सं० हीरालाल रसिकलाल कापड़िया, देवचन्द्र लालभाई जैन पुस्तकोद्धार ग्रन्थांक ७९, मुंबई १९३२. Harmann Jacobi का उच्चार 'हर्मण् 'यकोबी' होता है ऐसा उन्होंने (स्व०) कापड़ियाजी को स्वहस्त में नागरी लिपि में लिख के दिया था, और संपादकों ने इस बारे में जगदीशचन्द्र जी को वाकेफ़ किया था । (सन्दर्भ के लिए देखिये कापड़िया, "स्तुति-स्तोत्रोनुं पर्यालोचन," जैनयुग, वैशाख १९८३, पृ० ४४७, टिप्पण १).

७. काव्यमाला, सप्तम गुच्छक (द्वितीय संस्करण), मुंबई १८९६, पृ० १-१०.

८. "भूमिका", **भक्तामरस्तोत्र**, मुंबई १९१६, तथा "भूमिका", आदिनाथ स्तोत्र, षष्ठावृत्ति, मुंबई १९२३. (यह ग्रन्थ हमें मिल नहीं पाया ।)

९. श्रीप्रभावकचरित (भाषान्तर) (गुजराती), श्री जैन आत्मानंद ग्रंथमाला नं० ६३, भावनगर त्रि० सं० १९८७ (ईस्वी १९३२), पृ० ६८-७० ; तथा वहाँ "मानसुरि प्रबन्ध", पृ० १७२-१८३.

१०. संस्कृत "भूमिका", **भक्तामरकल्याणमंदिरनमिउणस्तोत्रत्रयम्**, मुंबई १९३२, पृ० १-३८, तथा वहीं गुजराती "भूमिका", पृ० १-३४ ; तदतिरिक्त जैन संस्कृत साहित्यनो इतिहास, खंड २ उपखंड १, (गुजराती), श्री मुक्ति-कमल-जैन-मोहन-माला : पुष्प ६४, सूरत १९६४, पृ० ३१३-३१९.

११. "प्रस्तावना", पूर्वाचार्य विरचित महाप्रभाविक नवस्मरण, (गुजराती), अहमदाबाद १९३८, पृ० ३१५-४५९.

१२. “भक्तामरस्तोत्र”, अनेकान्त, २.१, नई दिल्ली १९३९, पृ० ६९-७२.
१३. सागर समाधान, भाग २, दूसरी आवृत्ति, श्री जैन पुस्तक प्रचारक संस्था, सुरत वि० सं० २०२८ (ई० सं० १९७२), पृ० २८६-२८८.
१४. “दिगम्बर शास्त्र कैसे बने ? प्रकरण २१ आ० श्री मानतुंगसूरि”, श्री जैन सत्य प्रकाश, पृ० २ अंक ९, अहमदाबाद १९३७, पृ० ५१७-५१८, तथा “श्री भक्तामर स्तोत्र”, (गुजराती), श्री जैन सत्य प्रकाश, वर्ष ८ अंक ९, अहमदाबाद १९४२, पृ० २५-२८.१५.
१५. जैन परंपरानो इतिहास [भाग बीजो], (गुजराती), श्रीचारित्रस्मारक ग्रन्थमाला ग्रं० ५४, अहमदाबाद १९६०, पृ० ७-८.
१६. “प्रस्तावना”, (गुजराती), जैन स्तोत्र सन्दोह, द्वितीय भाग, अहमदाबाद १९३६, पृ० १२-१४.
१७. “भक्तामर-स्तोत्र के श्लोकों की संख्या ४४ या ४८ ?” श्रमण, वर्ष २१, अंक १०, वाराणसी अगस्त १९७०, पृ० २७-३१ ; तथा “भक्तामर-स्तोत्र के पाद-पूरतिरूप स्तव-काव्य”, श्रमण, वर्ष २१, अंक ११, वाराणसी सितम्बर १९७०, पृ० २५-२९ ; और “भक्तामर स्तोत्र के ४-४ अतिरिक्त पद्य”, जैन संदेश, भाग ४१, संख्या ४०, मथुरा फरवरी १९७१, पृ० १९९-२०२.
१८. “भक्तामरस्तोत्र”, जैन निबन्ध रत्नावलि, श्री वीर शासन संघ, कलकत्ता १९६६, पृ० ३३४-३४२, और वहाँ “परिशिष्ट”, पृ० ४३७-४३८.
१९. “आचार्य मानतुङ्ग”, अनेकान्त, १८-६, फेब्रु० १९६६, पृ० २४२-२४७; तथा संस्कृत साहित्य के विकास में जैन कवियों का योगदान, दिल्ली १९७१ और “कवीश्वर मानतुङ्ग”, (हिन्दी), भारतीय संस्कृति के विकास में जैन वाङ्मय का अवदान, (प्रथम खण्ड), सागर १९८२, पृ० २११-२१८.
२०. “प्रस्तावना”, भक्तामर-स्तोत्रम्, द्वितीय संस्करण, वाराणसी १९६९.
२१. जैन साहित्य का बृहद् इतिहास, भाग ६, पार्श्वनाथ विद्याश्रम ग्रन्थमाला :२०:, वाराणसी १९७३, पृ० ५६९-५७०.
२२. “प्रस्तावना”, सचित्र भक्तामर रहस्य, सं० कमलकुमार जैन शास्त्री ‘कुमुद’, दिल्ली १९७७, पृ० १८-४०.
२३. भक्तामर-रहस्य, जैन साहित्य प्रकाशन मंदिर, मुंबई १९७१, पृ० ३२-४३.
२४. उपर्युक्त ग्रन्थ, “प्रस्तावना”, पृ० १३-२४ तथा वहीं पंचम खंड अंतर्गत “काव्य समीक्षा आदि”, पृ० ३८७-४०८.
२५. “भक्तामर स्तोत्र - केटलाक प्रश्नो”, (गुजराती), प्रबुद्ध जीवन, मुंबई १६-४-’८७, पृ० २०३-२०६.
२६. सं० जिनविजय मुनि, (प्रथम भाग-मूल ग्रन्थ), सिंधी जैन ग्रन्थमाला, ग्रन्थांक १३, तदन्तर्गत “मानतुंग चरितम्” अहमदाबाद-कलकत्ता १९४०, पृ० ११२-११७.
२७. सं० जिनविजयमुनि, प्रथम भाग, वहाँ “मानतुंगाचार्य प्रबन्ध”, सिंधी जैन ग्रन्थमाला, ग्रन्थांक १, शान्तिनिकेतन १९३३, पृ० ४४-४५.
२८. कापड़िया, भक्तामर०, पृ० २-५.
२९. सं० जिनविजय मुनि, सिंधी जैन ग्रन्थमाला, ग्रन्थांक २, वहाँ “श्री मानतुङ्गाचार्य प्रबन्ध”, कलकत्ता १९३६, पृ० १५-१६.

३०. श्री यशोविजय जैन ग्रन्थमाला ४ , द्वितीय आवृत्ति, वी० सं० २४३७ / ईस्वी १९१०, पृ० ४.
३१. इस ग्रन्थ के सम्बन्ध में हमने कुछ उल्लेख ही देखा है, मूल ग्रन्थ प्राप्त नहीं हो सका ।
३२. कापड़िया, जैन संस्कृत साहित्यनो इतिहास, भाग २, सूरत १९६८, पृ० ३१६.
३३. ज्योतिप्रसाद, “प्रस्तावना”, सचित्र भक्तामर०, पृ० २६.
३४. कापड़िया, भक्तामर, प्रस्तावना (गुजराती), पृ० १४.
३५. ज्योतिप्रसाद, सचित्र भक्तामर०, पृ० २६.
३६. कटारिया, “भक्तामर-स्तोत्र”, जैन निबन्ध०, पृ० ३४२.
३७. काव्यमाला, सप्तम गुच्छक, पृ० १-२, टिप्पणी.
३८. निर्ग्रन्थ दर्शन में कषायों को क्षीण करके, सकल कर्मों से विमुक्त होने से, मोक्ष प्राप्त होता है ऐसी दृढ़ सैद्धान्तिक मान्यता है । मन्त्र-तन्त्रादि में ‘आलम्भ’ या ‘आरम्भ’ (हिंसायुक्त) प्रवृत्ति, तदुपरान्त राग, द्वेष, मोहादि में गर्त होने के अलावा इनमें आध्यात्मिक दृष्टि से तो कोई उपलब्धि संभव नहीं ।

(तालिका क्रमांक १)

क्रमांक	कर्ता	कृति	कृति समय
१	देवचन्द्रशिष्य मुनि नागचन्द्र	पञ्च-स्तोत्र-टीका अन्तर्गत “भक्तामर-स्तोत्र टीका”	प्रायः ई० १४७५
२	भट्टारक सोमसेन	भक्तामरोद्यापन	प्रायः ई० १४८४
३	भट्टारक ज्ञानभूषण	भक्तामरोद्यापन	सं० १६३७ / ई० १५८०
४	ब्रह्म० रायमल्ल (पश्चात् के भट्टारक रत्नचन्द्र)	भक्तामरवृत्ति	प्रायः ईस्वी १६१०
५	श्रीभूषणशिष्य ब्रह्म० ज्ञानसागर	भक्तामरपूजन	प्रायः ईस्वी १६१०
६	भट्टारक लक्ष्मीचन्द्रशिष्य ब्रह्म० ज्ञानसागर	भक्तामरस्तवपूजन	प्रायः ईस्वी १६२५
७	रत्नचन्द्रगणि	भक्तामरस्तव	प्रायः ईस्वी १६२७
८	पांडे हैमराज	गद्यवचनिका	विद्यमानता सं० १७०९-१६/ ई० १६५३-१६७०
९	अनन्तभूषणशिष्य भट्टारक विश्वभूषण	भक्तामरचरित अपरनाम भक्तामरकथा	सं० १७३२ / ई० १६६५
१०	कवि विनोदीलाल	भक्तामर-चरित-कथा	सं० १७४७ / ई० सं० १६९१

(तालिका क्रमांक २)

क्रमांक	कर्ता	रचना	रचनाकाल	टिप्पणी
१	खंडेलगच्छीय शान्तिसूरि	भक्तामरवृत्ति	प्रायः ई० १४वीं शताब्दी पूर्वार्ध या १३वीं शताब्दी उत्तरार्ध	उपलब्ध प्रति की प्रतिलिपि ई० १४वीं शताब्दी उत्तरार्ध। क्रमांक २७८वां, (खंभात) शान्तिनाथ ग्रन्थ भण्डार, (अप्रकाशित)।
२	रुद्रपल्लीय गुणाकरसूरि	अभिनववृत्ति या विवृति	सं० १४२६ / ई० १३७०	
३	रामचन्द्रसूरि	पर्याय या लघुवृत्ति	सं० १४७२ / ई० १४०५	संवत् १४९० में विक्रमचरित कथा तथा पंचदंडातपत्रप्रबन्ध के कर्ता पौर्णिमिक रामचन्द्र यही है ?
४	अज्ञात कर्तृक	विषमपद अवचूरि	सं० १४८२ / ई० १४२५	यह गुणाकर की वृत्ति पर आधारित है।
५	खरतरगच्छीय मेरुसुन्दर उपाध्याय	वार्तिक एवं वृत्ति	ई० १४५९ से कुछ साल पूर्व	
६	अज्ञात कर्तृक	अवचूरि	ई० १४६२ से कुछ साल पूर्व	
७	चैत्रगच्छीय गुणाकरसूरि	वृत्ति	सं० १५२४ / ई० १४६८	
८	अज्ञात कर्तृक	अवचूरि	ई० १५७२ से कुछ साल पूर्व	लिपि का संवत् १६२८
९	अज्ञातगच्छीय अमरप्रभ मुनि	सुखबोधपंजिका या सुखबोधिका	ई० १५८४ से कुछ समय पूर्व	लिपि वि० सं० १६४० से पूर्व वाचनाचार्य (उपाध्याय) देव- सुन्दर के अनुरोध से बनाई गई।

१०	नागोरी तपागच्छीय हर्षकीर्ति	टीका	वि० सं० १६५० / ई० १५९४	
११	अज्ञात कर्तृक	अवचूरि	ई० १५९४ से कुछ साल पूर्व	प्रति की लिपि सं० १६५०
१२	अज्ञात कर्तृक	वृत्ति	ई० १५९४	
१३	तपागच्छीय उ० भानुचन्द्र शिष्य सिद्धिचन्द्र	वृत्ति	ई० १६वीं शताब्दी का अन्त	अकबरकालीन
१४	खरतरगच्छीय समयसुन्दर	वृत्ति	ई० १६वीं शताब्दी का अन्त	अकबरकालीन
१५	तपागच्छीय सोमकुशल विनेय कनककुशल	बालवृत्ति	सं० १६५२ / ई० १५९६	अकबरकालीन
१६	तपागच्छीय शान्तिचन्द्रशिष्य रत्नचन्द्र	वृत्ति	ई० १६१७ से कुछ साल पूर्व	सं० १६७३ में प्रद्युम्नचरित में उल्लिखित
१७	तपागच्छीय लाभविजय-शिष्य	अवचूरि	सं० १६२७ / ई० १५७०	
१८	धर्मदास मुनि	वृत्ति	ई० १६९४ से कुछ साल पहले	लिपि सं० १७५०
१९	तपागच्छीय उपाध्याय मेघविजय	वृत्ति	ई० १७०४ से कुछ साल पूर्व	विजयप्रभसूरि के अनुरोध से कर्ता ने बनाई।
२०	क्षेमदेव	अवचूरि	अज्ञातकालीन	शायद १५वीं शताब्दी । (धनदेव, सिंहदेव, जैसे देवान्त नाम इसी समय में मिलते हैं।)

(तालिका क्रमांक ३)

क्रमांक	कर्ता	रचना	रचनाकाल	टिप्पणी
१	तपागच्छीय हेमविमलसूरि शिष्य विवेकधर्म	पार्श्वभक्तामर	प्रायः ईस्वी १६शताब्दी का अन्तभाग	यह वरकाणा के पार्श्वनाथ के आधार पर बनाया गया है।
२	तपागच्छीय पद्मसुंदरशिष्य राजसुंदर	वटपद्मपार्श्वनाथ स्तोत्र	प्रायः ईस्वी १६वीं शती पूर्वार्ध	
३	खरतरगच्छीय समयसुन्दरगणि	ऋषभभक्तामर	सं० १६८०/ ई० १६२४	
४	खरतरगच्छीय पद्मसागर- शिष्य राजसागर	दादापार्श्वभक्तामर	सं० १६८५/ ई० १६२९	
५	खरतरगच्छीय विनोदप्रमोद- शिष्य पं० विनयलाभगणि	पार्श्वभक्तामर	१७वीं शताब्दी	
६	खरतरगच्छीय धर्मवर्धनगणि	वीरभक्तामर	सं० १७३६ / ई० १६८०	
७	तपागच्छीय धीरविमलशिष्य ज्ञानविमल	ऋषभ-चैत्यवंदन	सं० १७५० / ई० १६९४	शत्रुंजयगिरि-ऋषभ को उद्देशित
८	लौकागच्छीय खेमकर्णशिष्य धर्मसिंह मुनि	सरस्वतीभक्तामर	(ईस्वी १७वीं शताब्दी?)	
९	आञ्चलिक विवेकचन्द्र	पादपूर्त्यात्मकस्तोत्र	१७वीं शताब्दी उत्तरार्ध	
१०	गुणविजय	पुष्पदन्तसुविधि- भक्तामर	१७ - १८ शताब्दी	
११	पौर्णिमिक भावप्रभसूरि	नेमिभक्तामर	सं० १७८४ / ई० १७२८	
१२	तपागच्छीय कीर्तिविमल- शिष्य लक्ष्मीविमल	शान्तिभक्तामर	सं० १७९० / ई० १७३४	
१३	मतिवर्धन	भक्तामरपादपूर्ति	१७वीं-१८वीं शताब्दी	

भक्तामरस्तोत्र के सर्जक एवं सर्जनकथा

कथात्मक साहित्य में भक्तामरस्तोत्र के प्रणेता के रूप में सर्वत्र मानतुंगसूरि का ही नाम प्रसिद्ध है । उसमें कहीं वैमत्य नहीं । उनकी गृहस्थ-पर्याय और प्रब्रज्या-पर्याय सम्बन्धी विगते (details) विशेषरूप से सबसे पहले प्रभावकचरित (ईस्वी १२७७) में मिलती हैं^१ । सम्राट् हर्षवर्धन (ई० स० ६०६-६४७) की सभा में महाकवि बाण और कविराज मयूर की प्रतिस्पर्धा से सम्बद्ध लोकप्रसिद्ध किंवदन्तियों के अनुसार, मयूर द्वारा चमत्कारपूर्ण सूर्यशतकस्तव और बाण द्वारा चंडीशतकस्तव की रचना को लेकर निर्ग्रन्थ मुनि भी ऐसी ही चामत्कारिक रचना करने में पीछे नहीं थे ऐसा दिखाने के लिए राजा से निर्ग्रन्थमतावलम्बी मन्त्री का मानतुंगाचार्य को बुलावा देने का अनुरोध, जंजीर से बांधकर एक कमरे में सूरि को कैद रखना, ४४ श्रृंखला से बांधा जाना और इन कारणों से ४४ पद्ययुक्त भक्तामरस्तोत्र की रचना करके उसके प्रभाव से (एक-एक पद्य के प्रादुर्भाव के संग-संग) जंजीरों का क्रमशः टूटना, इत्यादि का उल्लेख मिलता है । बाद के प्रबन्ध, चरितों एवं महिमापरक साहित्य में घटनास्थल और समकालीन राजा तथा कविवर के सम्बन्ध में कमोबेश बातें भिन्न-भिन्न स्रोतों में, कभी-कभी काफ़ी फ़र्क के साथ, दिखाई देती हैं । इन कथाओं की भीतरी बातों पर मुख्य रूप से महामनीषी यकॉबी, प्रा० कापड़िया, डा० नेमिचन्द्र, तथा डा० ज्योतिप्रसाद जैन आदि विद्वान् विचार कर चुके हैं; इसलिए हम इन बातों को यहाँ संक्षेप में तालिका क्रमांक ४ में दे रहे हैं, तथा तत्सम्बन्धी कुछ उपयुक्त विवेचन नीचे दे रहे हैं ।

ऐतिहासिक दृष्टि से सबसे उपयोगी चर्चा विद्वद्चूडामणि यकॉबी द्वारा हुई है^२ । उनसे कुछ साल पूर्व विद्वद्वर्य कॅकेनबॉस द्वारा मयूर के सूर्यशतक काव्य पर लिखी गई उनकी प्रस्तावना में जो कुछ कहा गया था, उससे याकॉबी महोदय का कथन थोड़ा आगे निकल जाता है । सांप्रत चर्चा में उनके कथन का सारांश देना यहाँ उपयुक्त सिद्ध होगा । यकॉबी महोदय ने बताया है कि बाण और मयूर के समकालीन होने का कोई प्रमाण नहीं मिलता । शार्ङ्गधर (ईस्वी १३६८) ने राजशेखर (प्रायः ईस्वी ९००) का निम्न उद्धृत जो उद्धरण दिया है, उसके आधार पर इतना ही कहा जा सकता है कि दशम शतक के आरम्भ में ये दोनों महाकवि, श्रीहर्ष की सभा के सदस्य माने जाते थे । उद्धरण इस प्रकार है:

अहो प्रभावो वाग्देव्या यन्मातङ्गदिवाकरः ।

श्रीहर्षस्याभवत्सभ्यः समं बाणमयूरयोः ॥

तत्पश्चात् कवि पद्मगुप्त ने नवसाहस्रांकचरित (प्रायः ईस्वी १०००) में कहा है कि बाण और मयूर में चल रही स्पर्धा हर्ष द्वारा प्रोत्साहित होती रहती थी । यथा :

स चित्रवर्णविच्छित्तिहारिणोखनीपतिः ।

श्रीहर्ष इव संघट्टं चक्रे बाणमयूरयोः ॥

इस उल्लेख के पश्चात् मम्मट ने काव्यप्रकाश की स्वोपज्ञवृत्ति (प्रायः ईस्वी ११००) में द्वितीय कारिका की टीका करते हुए लिखा है :- “आदित्यादेर्मयूरादिनामिवानर्थनिवारणं”; इससे मयूर ने जो सूर्यशतक रचकर अपने कुष्ठ रोग का निवारण किया था वह कथा तो परिलक्षित है ही, साथ ही ‘आदि’ शब्द से ऐसी अन्य भी चमत्कारिक घटनाएँ—जैसे बाण ने मयूर को स्पर्धा में चंडीशतक का प्रणयन करके अपने छेदे हुए अंग पुनः प्राप्त किए—वह भी अनुलक्षित है, ऐसा प्रतीत होता है । इसका सूचितार्थ यह है कि ईस्वी ११०० के पूर्व मयूर-बाण सम्बद्ध प्रसिद्ध दन्तकथाएँ प्रचलित हो चुकी थीं^१ ।

अब इस बीच निर्ग्रन्थ-दर्शन का महत्त्व दिखाने के लिए मानतुंगाचार्य को लाना ही बाकी रह जाता था । वह त्रुटि आचार्य प्रभाचन्द्र ने दूर कर दी । “मानतुंगचरित” के प्रान्त-पूर्व की कारिका में कर्ता ने इस प्रबन्ध की रचना कैसे हुई, यह बताते हुए लिखा है कि “श्रुत्वा कुत्रापि किञ्चिद् गृहीतमिह मया सम्प्रदायं च लब्ध्वा” अर्थात् लिखते समय कुछ इधर-उधरका सुना हुआ और कुछ सम्प्रदाय में प्रचलित मौखिक अनुश्रुति (और शायद कुछ लिखित इतिवृत्त ?) का आधार लिया गया था । प्रभाचन्द्र के सामने बाण-मयूर की प्रतिद्वन्द्विता से सम्बद्ध बाह्यण पंडितों द्वारा गढ़ी गई कथा मौजूद थी ही और इस तरफ निर्ग्रन्थों में भक्तामर भी एक अपूर्व, अति प्रसिद्ध एवं पुरातन रचना थी, जिसके कर्ता मानतुंगाचार्य थे इतना तो ज़ाहिर था ही; पर वह कहाँ हुए थे, कब हुए थे, इस विषय से सम्बद्ध कोई जानकारी नहीं थी । दूसरी ओर चमत्कारी घटना के सर्जन के लिए कुछ प्रेरक सामग्री स्तोत्र में ही पड़ी थी । विशेषरूप से स्तोत्र के ४२वें (दिगम्बर ४६वें) निम्न उद्धृत पद्य में श्रृंखलाबंधन का छेदन जिनेन्द्र के नामकीर्तन से होता है, ऐसा कहा गया है, जो केवल भक्त-हृदय की शब्दबद्ध की हुई भावना ही है, यथा :

आपादकण्ठमुरु शृङ्खलवेष्टिताङ्गा
गाढं बृहन्निगडकोटिनिघृष्टजङ्घाः ।
त्वन्नाममन्त्रमनिशं मनुजाः स्मरन्तः
सद्यः स्वयं विगतबन्धभया भवन्ति ॥

विन्टरनित्सु महोदय का कहना ठीक ही है कि इस पद्य को आधार बनाकर चमत्कार को कथा में चरितार्थ किया गया है^२ । ऐसा लगता है कि मयूर के कुष्ठ-रोग-निवारण की दन्तकथा भी सूर्यशतक के छठे पद्य को लेकर ही बनी होगी^३ । शायद वही घटना प्रभाचन्द्र द्वारा कही गई मानतुंग-कथा की प्रेरणा एवं आदर्श रही होगी । इन परिस्थितियों में स्वयं प्रभाचन्द्र ने भक्तामर सम्बद्ध चमत्कारपूर्ण कथा न भी रची हो तो उनके कुछ समय पूर्व किसी मुनि ने जिनशासन की महिमा बढ़ाने के लिए यह प्रयत्न किया होगा, ऐसा साधारण तर्क हो सकता है ।

प्रभाचन्द्र के बाद मेरुतुंगाचार्य (ई० स० १३०५) ने तो इस सम्बन्ध में अति संक्षिप्त और समास-रूप में ही विवरण दिया है । इसलिए उनका कथन अधिक विगतों से भरा हुआ नहीं है । हो सकता है, उनके सामने प्रभावकचरित न भी रहा हो; क्योंकि उनकी कथा में बाण-मयूर-मानतुंग एक साथ होते हुए भी उन्होंने चमत्कार का घटना स्थल वाराणसी की जगह उज्जयिनी बताया है और राजा

का नाम दिया है (परमारराज) भोज, जो कालातिक्रमण मात्र है; अलबत्ता श्रृंखला वाली घटना का जिक्र वहाँ भी है, पर यह बन्दीगृह में न घटकर नगरी के युगादीश्वर के मन्दिर के पिछले हिस्से में घटी थी, ऐसा कहा गया है^६ ।

भक्तामर के सबसे प्राचीन दो वृत्तिकारों में से एक, रुद्रपल्लीय गुणाकर सूरि (ई० १३७०) ने भी उज्जयिनी को घटना-स्थल बताया है; परन्तु सम्बन्ध-कर्ता राजा को “वृद्धभोज” कहा है, जिससे शायद प्रतीहारराज मिहिरभोज (ईस्वी ८३५-८८८) विवक्षित है । किन्तु बाण-मयूर वाली घटना प्रचलित किंवदन्ती के अनुसार ही दी है^७, जो पीछे कही गई बात के कालक्रम से विपरीत है । यहाँ विशेषता यह है कि उन्होंने मयूर के सूर्यशतक से दो पद्य (क्रमांक १, ६) और बाणभट्ट के चंडीशतक से एक पद्य (क्रमांक १) को उद्धृत किया है, जो बात प्रभाचन्द्र के प्रभावकचरित में नहीं है । मानतुंग की चमत्कार-कथा में एक छोटी सी विगत यह भी दी गई है कि प्रत्येक पद्य के उच्चारण के साथ ही श्रृंखलाएँ टूटती गईं, और ४२ वें पद्य तक पहुँचते ही बंद किए हुए कमरे का भी ताला टूट गया तथा सूरि बाहर निकल आये ।

श्वेताम्बर सम्प्रदाय की पट्टावलियों में भी इस चमत्कारिक घटना का संक्षिप्त उल्लेख १५वें शतक के आरम्भ से होता है । तपागच्छीय सोमसुन्दर सूरिशिष्य मुनिसुन्दर सूरि की गुर्वावली (सं० १४६६ / ई० स० १४१०) में चमत्कारवाली घटना का जिक्र है और विशेष में कहा गया है कि भक्तामर के अतिरिक्त भयहरस्तोत्र एवं भक्तिभरस्तव का कर्तृत्व का श्रेय इसी मानतुंग को दिया गया है^८ । यथा :

आसीत् ततो दैवतसिद्धिऋद्धः श्रीमानतुंगोऽथ गुरुः प्रसिद्धः ।

भक्तामराद् बाणमयूरविद्याचमत्कृतं भूपमबोधयद् यः ॥

भयहरतः फणिराजं यश्चाकार्षीद् वशम्बदं भगवान् ।

भक्तिभरेत्यादिनमस्कारस्तवदृब्धबहुसिद्धिः ॥

- गुर्वावली ३५-३६

मुनिसुन्दरसूरि के गुरु सोमसुन्दर सूरि के सधर्मा गुणरत्नसूरि की उसी वर्ष की रचना गुरुपर्वक्रम (ई० स० १४१०) में भी मानतुंग से सम्बद्ध एक छोटा सा उल्लेख है^९ । यथा :

भक्तामराद्यद्भुतकाव्यसिद्धिः श्रीमानतुंगोऽथ बहुप्रसिद्धिः ।

- गुरुपर्वक्रमः १३'

नयचन्द्र सूरि की राजगच्छपट्टावली (१५वीं शती, आखिरी चरण) में नई ही बात दी गई है । वहाँ मानतुंग को मालवेश्वर चौलुक्य वयरसिंहदेव का अमात्य बताया है । वही भक्तामर एवं भयहरस्तोत्र के कर्ता थे ऐसा कहा गया है और बाद में मानतुंग से सम्बद्ध कोई अज्ञात (शायद १३वीं-१४वीं शती) कर्ता के किसी स्तोत्र या प्रशस्ति से लिया गया पद्य उद्धृत किया है^{१०} । यथा :

यो वैधर्मिकलोकभूपतिपुरस्तुत्रोट जैनस्तवात् ।

कुर्वे श्रृङ्खललोहबन्धनमयं सङ्गप्रभावोद्यतः ।

यस्यादेशविधायिनी समभवद् देव्यम्बिका सर्वदा
पायाद् वः स सदा सुनिर्मलगुणः श्री मानतुङ्गः प्रभुः ॥

- राजगच्छपट्टावली

ठीक यही पद्य पुण्यरत्नसूरि की बृहद्गच्छगुर्वावली (सं० १९२० / ई० सं० १५६४) के अन्तर्गत भी मिलता है^{११}। मालवेश्वर वैरिसिंह प्रथम (ईस्वी ८२५) एवं द्वितीय (ईस्वी ८७५) परमार वंश के थे, चौलुक्य (सोलंकी) नहीं। और भक्तामरस्तोत्र निश्चित रूप से इन दोनों से प्राचीन रचना है।

ईस्वी १५८० से कुछ साल बाद लिखी गई तपागच्छीय लघुपोसालिकपट्टावली में मानतुंग सूरि से सम्बद्ध इस तरह का उल्लेख मिलता है^{१२}।

मानतुंगसूरिर्भक्तामर-भयहर-भक्तिम्बर-अमरस्तवादिकृत् ।

भक्तामरं च भयहरं च विधापनेन

नग्रीकृतः क्षितिपतिर्भुजगाधिपश्च ।

मालवके तदा वृद्धभोजराजसभायां मानं प्राप्तं भक्तामरतः

- लघुपोसालिकपट्टावली

प्रायः उसी समय के समीप तपागच्छीय धर्मसागर गणि के तपागच्छपट्टावलिसूत्र (सं० १६४८/ ई० सं० १५८२) में भी कुछ इसी तरह की बात कही गई है। यथा :

येन भक्तामरस्तवनं कृत्या बाण-मयूरपंडितविद्या चमत्कृतोऽपि क्षितिपतिः प्रतिबोधितः ।
भयहरस्तवन करणेन च नागराजो वशीकृतः भक्तिभरेत्यादि स्तवनानि च कृतानि ॥^{१३}

दिगम्बर साहित्य में भक्तामरस्तोत्र से सम्बद्ध जो कथाएँ मिलती हैं, १७वीं शती के पूर्व की नहीं हैं। उनकी हालत तो श्वेताम्बर कथाओं से भी बुरी है। ब्रह्म० रायमल्ल (पश्चात् के रत्नचन्द्रसूरि) की भक्तामरवृत्ति (ई० सं० १६२६) श्वेताम्बर गुणाकर सूरि की वृत्ति (ईस्वी १३७०) को सामने रखकर बनाई हुई प्रतीत होती है और साराभाई नवाब का तो कहना भी है कि गुणाकर की दी हुई कथाओं, पात्रों के नामादि बदल कर, कुछ सम्प्रदाय के अनुकूल इधर-उधर हेराफेरी करके ही रची गई है^{१४}। यहाँ तो कमरे भी एक की जगह ४८ हो गये हैं। इसमें धाराधीश भोज की सभा के सदस्य के रूप में एवं चमत्कार दिखाने वाले कवियों में बाण-मयूर न हो कर कालिदास, भारवि और माघ उपस्थित किए गये हैं। इनमें से कालिदास गुप्तकालीन थे, किरातार्जुनीयकार महाकवि भारवि ईस्वी छठी शताब्दी पूर्वार्ध में हुए थे और गूर्जरदेशवासी महाकवि माघ के शिशुपालवध-महाकाव्य का समय प्रायः ईस्वी ६७५ है। भट्टारक विश्वभूषण (ईस्वी १६६७) तो ब्रह्म० रायमल्ल से भी आगे निकल गये हैं। यद्यपि डा० ज्योतिप्रसाद जैन ने विश्वभूषण के भक्तामरचरित के अन्तर्गत (दिगम्बर सम्प्रदाय में हुए) महाकवि धनंजय मानतुंग के शिष्य थे, केवल इतना ही उल्लेख उस प्रसंग में किया है^{१५} पर डा० नेमिचन्द्र तो निर्देशित कर चुके हैं कि वहाँ (धनंजय के अतिरिक्त) वररुचि, कालिदास, भर्तृहरि, और शुभचन्द्र भी समाविष्ट हैं^{१६}। वररुचि गुप्तकाल में (या इससे थोड़ा पूर्व ?) कहीं थे; वैयाकरण भर्तृहरि ईस्वी पंचम

शती प्रारम्भ में हुए थे; और ज्ञानार्णवकार दिगम्बर योगी शुभचन्द्र दसवीं शताब्दी में हो गए थे । गरज यह कि इन पिछले युग के दिगम्बर कथानक कर्ता श्वेताम्बर कथाकारों से भी विशेष अन्धेरे में थे । फलतः उन्होंने मानतुंग की गरिमा का गान करने में महान् एवं सुविश्रुत निर्ग्रन्थेतर संस्कृत कविवरों को इतिहास-काल की मर्यादा ध्यान में न रखते हुए धाराधीश भोज के दरबार में एक समय में एक साथ बिठा दिया।

वस्तुतः ये सब चमत्कारपूर्ण कथाएँ कितनी हास्यास्पद हैं इस सम्बन्ध में कटारिया महोदय ने जो कुछ कहा है वह बहुत ही मार्मिक है । हम यहाँ उनको यथातथ उद्धृत करके इस अध्याय की समाप्ति करेंगे । “ये निर्माण-कथायें कितनी असंगत, परस्पर विरुद्ध, और अस्वाभाविक हैं, यह विचारकों से छिपा नहीं है ।

किसी कथा में मानतुंग को राजा भोज के समय में बताया है, किसी में कालिदास के तो किसी में बाण, मयूर आदि के समय का बताया है, जो परस्पर विरुद्ध है ।

राजा ने कुपित होकर मानतुंग को ऐसे कारागृह में बन्द करवा दिया जिसमें ४८ कोठे थे और प्रत्येक कोठे के एक एक ताला था, ऐसा कथा में बताया है पर सोचने की बात है कि-एक वीतराग जैन साधु को जिसके पास कोई शस्त्रास्त्रादि नहीं कैसे कोई राजा ऐसा अद्भुत दंड दे सकता है ? और फिर ऐसा विलक्षण कारागार भी तो संभव नहीं । सही बात तो यह है कि ४८ श्लोक होने से ४८ कोठे और ४८ तालों की बात गढ़ी गई है । अगर कम ज्यादा श्लोक होते तो कौठों और तालों की संख्या भी कम ज्यादा हो जाती । श्वेताम्बर ४४ श्लोक ही मानते हैं- अतः उन्होंने बन्ध भी ४४ ही बताया है । इस तरह इन कथाओं में और भी पद पद पर बहुत ही बेतुकापन पाया जाता है जो थोड़े से विचार से ही पाठक समझ सकते हैं ।”^{१७}

टिप्पणियाँ :-

१. प्र० च०, सं० जिनविजय, पृ० ११२-११७.
२. Jacobi, “Foreword”, pp. I-VIII, भक्तामर०, सूरत १९३२.
३. *Ibid.*, p. V.
४. Maurice Winternitz, *A History of Indian Literature*, Vol. II, Sec. ed. Reprint, Delhi 1977, pp. 550 - 551.
५. शीर्षाघ्राणाङ्घ्रिपाणीन्द्रणिभिरपघनैर्घर्घराव्यक्तघोषान्
दीर्घाघ्रातानघौघैः पुनरपि घटयत्येक उल्लाघयन् यः ॥
घर्षाशोस्तस्य वोऽन्तद्विगुणघनघृणानिघ्ननिर्विघ्नवृत्ते-
र्दत्तार्थाः सिद्धसंघैर्विदधतु घृणयः शीघ्रमंहोविघातम् ॥६॥
(सूर्यशतकम्, (व्या० रमाकान्त त्रिपाठी), विद्याभवन संस्कृत ग्रन्थमाला १०६, वाराणसी १९६४, पृ० ५.)

६. प्र० चिं०, सं० जिनविजय, शान्तिनिकेतन १९३३, पृ० ४४-४५.
७. कापड़िया०, भक्तामर०, पृ० ४-५.
८. गुर्वावली, (कर्ता मुनिसुन्दर सूरि), श्री यशोविजय ग्रन्थमाला (४), काशी वी० सं० २४३१ (ई० स० १९०४), का० ३५, पृ० ८-९.
९. "गुरुपर्वक्रम" (क्रियारत्नसमुच्चय अंतर्गत), पट्टावलीसमुच्चय, प्रथमोभाग, सं० मुनि दर्शनविजय, वीरमगाम १९३२, पृ० २६.
१०. "श्री राजगच्छ पट्टावली," विविधगच्छीय पट्टावली संग्रह, प्रथम भाग, सं० जिनविजय मुनि, सिंघी जैन ग्रन्थमाला, गन्थांक ५३, मुंबई १९५३, पृ० ६३. (अलबत्ता यहाँ प्रथम के दो ही चरण उद्धृत हुए हैं ।)
११. वही ग्रन्थ, पृ० ५२.
१२. वही ग्रन्थ, पृ० ३८.
१३. प० स०, प्रथमो भाग, पृ० ४९.
१४. "प्रस्तावना", पू० वि० म० न०, अहमदाबाद १९३८, पृ० १४.
१५. "प्रस्तावना", स०-भ०-२०, दिल्ली १९७७, पृ० ३३.
१६. "आचार्य मानतुङ्ग," अनेकान्त, १८-६, पृ० २४२.
१७. "भक्तामर स्तोत्र," जै० नि० २०, कलकत्ता १९६६, पृ० ३४९.

(तालिका क्रमांक ४)

मानतुंगसम्बद्ध विगते	प्रभावन्द्राचार्य कृत प्रभावकचरित (ई० सं० १२७७)	मेरुतुंगाचार्य कृत प्रबन्धचिंतामणि (ई० सं० १३०५)	गुणाकरसूरि कृत भक्तामरस्तोत्रवृत्ति (ई० सं० १३७०)	पुरातनप्रबन्ध संग्रह के अंतर्गत B.B1 (ईस्वी १५वीं शती)	बहारायमल्ल कृत भक्तामरवृत्ति (ई० सं० १६१०)	भट्टारक विश्वभूषण कृत भक्तामरचरित (ई० सं० १६६५)	टिप्पण
जन्मस्थल	वाराणसी	—	—	—	—	—	—
समकालीन राज्यकर्ता	हर्षदेव	(परमाराज) भोज	(मिहिरभोज?) वृद्धभोज	हर्ष	भोज	भोज	—
ज्ञाति एवं पिताका नाम	ब्रह्मक्षत्रिय धनदेव	—	—	ब्रह्मक्षत्रिय धनदेव	—	—	—
प्रथम दीक्षागुरु द्वितीय दीक्षागुरु	दिगम्बर चारुकीर्ति जिनसिंह	—	—	—	—	—	दिगम्बर संप्रदायमें दीक्षितावस्थामें मानतुंगाचार्य का नाम महाकीर्ति था ऐसा प्र०च० और चारुकीर्ति रहा ऐसा पु० प्र० सं० का कथन है। विश्वभूषणके अनुसार वे कर्णाटाचार्य थे।
समकालीन कवि	बाण, मयूर	बाण, मयूर, (श्रीमालपुर के माघ कवि)	बाण, मयूर	—	कालिदास, भारवि माघ	वररुचि, भर्तृहरि, कालिदास, धनंजय, शुभचन्द्र	—
चमत्कार घटनास्थल	वाराणसी तालेबंध कमरा	(धारानगर) तालेबंध कमरा	उज्जयिनी आदिनाथ मंदिर के पीछे	वाराणसी तालेबंध कमरा	मालवदेशमें धारानगरी	धारा	—

सर्जन कृतियाँ	भक्तामरस्तोत्र भयहरस्तोत्र	भक्तामरस्तोत्र	भक्तामरस्तोत्र भयहर स्तोत्र भक्तिभर स्तोत्र	भक्तामरस्तोत्र भयहर स्तोत्र	भक्तामरस्तोत्र	भक्तामर स्तोत्र	लगाता है, पु० सं० वाला कर्ता ने प्रायः प्र० च० का अनुसरण किया है
मानतुंगाचार्य के शिष्य	गुणाकर सूरि	—	गुणाकरसूरि	—	महाकवि धनंजय	—	—

भक्तामर की पद्यसंख्या

यह सुविदित है कि श्वेताम्बरीय पाठ में इस स्तोत्र के ४४ और दिगम्बरीय में ४८ पद्य मिलते हैं । कारण यह कि अष्ट-महाप्रातिहार्य के माने जाते समूह में से पहले में चार ही, और दूसरे में शेष रहनेवाले चार मिलाकर परम्परा-मान्य पूरे आठों प्रातिहार्य निरूपक आठ पद्य हैं । इन दोनों में कौन सही है इस विषय को लेकर दोनों पक्षों के विद्वद्वर्यों के द्वारा काफ़ी ऊहापोह हो चुका है । चर्चा में हम ४४ पद्य को मानने वाले पक्ष की युक्तियाँ पेश करेंगे, और साथ-साथ प्रतिपक्षीय ४८ पद्य वालों का कथन देकर अपनी राय बतलायेंगे ।

यकॉबी महत्तर का कथन था कि कुमुदचन्द्र विरचित कल्याणमन्दिरस्तोत्र (प्रायः ईस्वी ११००-११२५) का (रूपगत-शैलीगत) आदर्श, भक्तामरस्तोत्र रहा है । वह भी ४४ पद्यों में, एवं प्रायः वसन्ततिलका छन्द में निबद्ध है । (अन्तिम पद्य में अलबत्ता यहाँ आर्या वृत्त से छन्दोभेद किया गया है, जो भक्तामर में नहीं है ।) इसका मतलब यह हुआ कि उस वक्त (ईस्वी १२वीं शती के आरम्भ में) भी, 'अनुकरण प्रवृत्त' कुमुदचन्द्र के सामने भक्तामरस्तोत्र का जो पाठ रहा था उसमें ४४ पद्य ही थे^१ ।

इस सन्दर्भ में विद्वदपुंगव डा० ज्योतिप्रसाद जैन का कथन यहाँ उद्धृत करना प्रासंगिक होगा :
 “एक सम्भावना है – आचार्य कुमुदचन्द्र ने कल्याणमन्दिर की रचना १२वीं शती ई० के प्रारम्भ के लगभग की थी । जब श्वेताम्बर विद्वानों ने उस पर मुग्ध होकर उसे अपना लिया और उसके साथ सिद्धसेन दिवाकर जैसा प्राचीन प्रसिद्ध श्वेताम्बराचार्य का नाम जोड़ दिया तो उसके अनुकरण पर भक्तामर के चार श्लोक (३२, ३३, ३४, ३५) निकाल कर उसे भी कल्याणमन्दिर जैसा ४४ श्लोकी बना लिया गया और उक्त परम्परा में वह उसी रूप में प्रचलित हो गया हो । वस्तुतः भाषा, शैली, भाव आदि किसी दृष्टि से उन चारों श्लोकों के मूलतः भक्तामरकार की कृति होने में कोई भी बाधा नहीं है, वे असम्बद्ध या असंगत भी नहीं हैं, और उसके बिना स्तोत्र अपूर्ण और सदोष रह जाता है । उन चारों श्लोकों में ऐसी भी कोई बात नहीं है कि किसी भी सम्प्रदाय को कोई ठेस लगती हो^२ ।”
 कल्याणमन्दिरस्तोत्र १२वीं शती के प्रारम्भिक चरण में बना और उसके कर्ता दिगम्बराचार्य कुमुदचन्द्र हैं, न कि श्वेताम्बर परम्परा के सिद्धसेन दिवाकर, इस बात से हम पूर्णतया सहमत हैं । यद्यपि इसे यकॉबी महोदय ने मान्य नहीं किया है, फिर भी कुछ अन्य जैन विद्वद्वर्यों की तरह हम भी मानते हैं कि यह कुमुदचन्द्र वही हैं जिनका गुजरात की राजधानी अणहिल्लपत्तन में बृहद्गच्छीय श्वेतपट्ट आचार्य, वादी देव सूर से ईस्वी ११२५ में सोलंकी सम्राट् जयसिंहदेव सिद्धराज की सभा में वाद हुआ था^३ । प्रबन्धों के अनुसार कर्णाटक के बाद कर्णावती (बाद के अहमदाबाद) में चातुर्मास व्यतीत करके वे पाटन गये थे । सम्भवतः उसी समय गुजरात के श्वेताम्बर सम्प्रदाय उनके कल्याणमन्दिरस्तोत्र से परिचित हुआ ।

स्तोत्र की उस काल से लेकर क्रमशः अधिकतर संख्या में प्रतिलिपियाँ भी होती रही होगी, और १३वीं शताब्दी उत्तरार्ध के करीब इसका जब पर्याप्त प्रचार श्वेताम्बरों में हो चुका, और उसके कर्ता कौन थे, किस सम्प्रदाय के थे, इस बात का विस्मरण हो गया तब प्रभाचन्द्र ने सिद्धसेन दिवाकर से सम्बन्धित कथा में यह कहकर कि प्रव्रज्या के समय सिद्धसेन का नाम 'कुमुदचन्द्र' था (और इस तरह सिद्धसेन से उसे सायुज्य करके) दुविधा से छुटकारा पा लिया हो । इससे स्तोत्र को पुरातनता एवं विशेष गरिमा भी प्राप्त हो गई । असल में कुमुदचन्द्र नाम के मुनि या आचार्य श्वेताम्बर परम्परा में कहीं भी नहीं हुए* पर मध्यकालीन कर्णाटक में दिगम्बर सम्प्रदाय के इस अभिधानधारी मुनि ठीक संख्या में मिलते हैं । दूसरी ओर देखा जाय तो कल्याणमन्दिरस्तोत्र का, और सिद्धसेन की उपलब्ध २१ द्वात्रिंशिकाओं के कलेवर, शैली, और भाव के बीच कोई मेल नहीं और वह द्वात्रिंशिका भी नहीं है । कल्याणमन्दिर पर भक्तामर का प्रभाव होते हुए भी उसकी शैली, संरचना, कल्पना और प्रयुक्त अलंकारों के विशेष प्रकार और लगाव आदि सभी तत्त्व स्पष्टतया मध्यकालीन हैं । कुछ कल्पनाएँ विकसित और उदात्त होते हुए भी इसमें भक्तामर जैसी प्राचीन स्तुति-काव्यों की उत्कृष्ट प्रासादिकता एवं लयकारी का प्रायः अभाव ही है । कापड़िया महोदय (और दूसरे भी कुछ श्वेताम्बर विद्वान्) यद्यपि ज़िद करके इस कृति को सिद्धसेन की, एवं श्वेताम्बरीय सिद्ध कर रहे हैं*, लेकिन यह सब पर्याप्त परीक्षण के अभाव का ही द्योतक है । स्वयं कापड़िया द्वारा किया हुआ भक्तामर और कल्याणमन्दिर का तुलनात्मक अध्ययन उनकी इस मान्यता का अपलाप करता है^६ ।

दूसरी ओर श्वेताम्बरों ने कल्याणमन्दिर को सामने रखकर भक्तामर के मूलतः ४८ पद्यों में से चार को हटाकर ४४ पद्योंवाला स्तोत्र बना दिया होगा ऐसा मानने के लिए तो किसी भी प्रकार का आधार नहीं है । यदि "मुग्धता" काव्यों की संख्या में फेरफार करने में निमित्त बन सकती हो तो दिगम्बर सम्प्रदाय भी कल्याणमन्दिर पर उतना ही मुग्ध था जितना श्वेताम्बर । उन्होंने इस कारण अपने सामने ४८ पद्यों वाला भक्तामर रहा हो तो उसको ४४ पद्यों वाला क्यों नहीं बना दिया ? कोई जवाब नहीं ! श्वेताम्बर में प्रचलित स्तोत्र साहित्य के परिप्रेक्ष्य में देखा जाय तो वहाँ प्रधानता भक्तामर की रही, और आज भी है; कल्याणमन्दिर का स्थान दूसरा है । 'श्वेताम्बर' कोई एक स्वाधीन व्यक्ति नहीं जो मन चाहे कर सके । मध्यकाल में वह सम्प्रदाय अनेक गच्छों में विभक्त था । १२वीं शती में वहाँ नागेन्द्र, चन्द्र, बृहद्, हर्षपुरीय, पूर्णतल्ल, खरतर, पौर्णमिक, अञ्जल, सरवाल, जाल्योधर, और चित्रवालक आदि अनेक संविज्ञविहारी एवं सुविहित तपस्वी मुनियों के गच्छ, और थारापद्र, मोढ, वायट, उकेश, ब्रह्माण, कोरंट, संडेर, खंडिल्ल या भावाचार्य और नाणकीय जैसे सुखशील चैत्यवासी गच्छों की प्रधानता थी । मुनियों और उनके श्राद्धों की संख्या भी प्रायः सैकड़ों में थी और वे सब प्रायः पूरे राजस्थान और गुजरात में फैले थे । यदि किसी एक गच्छ के लोग भक्तामर के ४८ पद्यों में से ४ पद्य हटा देते तो उस अनुचित कार्य को अन्य गच्छ वाले चुपचाप बहाली न दे देते । (गच्छों के बीच हमेशा सुमेल रहता ही था ऐसा नहीं था ।) उस ज़माने में पश्चिम भारत के मुख्य नगरों में स्थित अनेक श्वेताम्बर ग्रन्थ-भण्डार थे, और अनेक प्रतिलिपिकार भी । भक्तामर की अलग-अलग स्थानों में लिखी जाने वाली सभी प्रतियों में एक साथ गाँठ करके सब में से एक साथ चार पद्य हटा दिये जाँय, विश्वसनीय

नहीं है; और वह भी जब कि अष्ट-प्रातिहार्यों के विभाव को श्वेताम्बर भी दिगम्बरों जितनी चुस्ती से मानते थे । यह हटाने वाली बात यदि कल्याणमन्दिरस्तोत्र को सामने रखकर हुई हो तो उस स्तोत्र में भी अष्ट-महाप्रातिहार्यों वाले आठ पद्य थे ही; इसलिए भक्तामर में से प्रातिहार्य सम्बन्धी चार पद्य न हटाकर कोई और ही चार पद्य निकाल दिये जा सकते थे । अन्यथा ईस्वी १२वीं-१३वीं शताब्दी की खंभात, पाटन और जैसलमेर के भण्डारों में संरक्षित ताड़पत्रीय प्रतियों में से कुछ तो ऐसी मिलनी चाहिए थीं जिनमें ४८ पद्य हों । लेकिन ऐसा नहीं मिलता है । दिगम्बर-मान्य पाठ के चार अतिरिक्त पद्य मूलकार के हैं या नहीं और नहीं है तो कब प्रक्षिप्त हुए इस विषय पर आगे परीक्षण किया जायेगा ।

डा० ज्योतिप्रसाद के पूर्व इस समस्या का सुझाव पंडितप्रवर अमृतलाल शास्त्री ने अपनी दृष्टि से पेश किया था । प्रभाचन्द्र के “मानतुंगचरित” की शृंखला वाली कथा सम्बन्धी चर्चा के समापन में वे इस नतीजे पर पहुँचे थे : “ऊपर बतलायी गयी बेड़ियों की चवालीस संख्या ही मेरी दृष्टि से भक्तामरस्तोत्र की पद्य-संख्या की मान्यता का कारण है ।”^६ हम इससे भी सहमत नहीं । वहाँ आदित्व (और इसलिए महत्त्व एवं प्राथमिकता) ‘बेड़ी की संख्या’ का नहीं, पद्य की संख्या का था । दन्तकथा पहले गढ़ दी जाय और बाद में उसको प्रमाण मानकर स्तोत्र की पद्य संख्या में फर्क कर दिया जाय, यह बात न व्यवहार में संभव है, न ही तर्कसंगत है । प्रबन्धकार के सामने जो उपस्थित पद्य संख्या थी, उसी को देखकर ही ४४ बेड़ियों की कथा का सर्जन हो सकता है । आखिर ४४ अंक की कोई ऐसी तो विशेषता या पवित्रता नहीं जिसके आधार पर बेड़ियों के लिए ४४ पद्य ही लेना जरूरी बन जाय^७; और इस तर्क को लेकर, दन्तकथा के प्रति अत्यधिक आदर दिखाकर, उसके खातिर लोकप्रसिद्ध चिरंतन स्तोत्र को खण्डित किया जाय । इतना ही नहीं, ऐसी चेष्टा, छेड़छाड़, स्वेच्छाचार को सम्प्रदाय के तत्कालीन विभिन्न गच्छों के अनेक दिगज एवं व्युत्पन्न आचार्यों-मुनियों का समर्थन भी प्राप्त हो जाय ! ऐसी कल्पना अति साहस का द्योतक ही माना जायेगा । प्रश्न यह भी तो हो सकता है कि दिगम्बर-मान्य कथा-पाठ में बेड़ियों या अर्गला या निगड की संख्या “४८” कैसे आ गई ? क्या उसका आधार वहाँ मान्य पद्यों की “४८” संख्या नहीं है ? अर्थात् वहाँ भी पद्य-संख्या पर ही तो प्रमुख जोर है ! जैसे कि पीछे हम देख आये हैं (पृ० १८), कटारिया महोदय ने भी इसी तथ्य का समर्थन किया है ।

इस सन्दर्भ में साराभाई नवाब के कथन पर भी यहाँ विचार कर लें । “.....भक्तामर के श्लोकों की संख्या चवालीस होने के समर्थन में वृद्ध परम्परा ऐसी है कि इस अवसर्पिणी में ‘भरत’ क्षेत्र में हो गए २४ जिनेश्वर और अधुना ‘महाविदेह’ क्षेत्र में विचरने वाले २० जिनेश्वर मिलकर ४४ संख्या होती है । यह स्तोत्र भी ४४ संख्यात्मक है, और इसका कारण उसका एक-एक पद्य एक-एक जिनेश्वर की स्तुतिरूप है ।” (साराभाई से पाँच साल पूर्व प्रा० कापड़िया ने भी उल्लेख रूपेण कुछ ऐसा ही कहा था^८ ।) जहाँ तक ४४ संख्या का सम्बन्ध है, ऐसा मेल तो एक तरह से आकस्मिक सा है । अन्यथा यह सूचन का औचित्य है ही नहीं । क्योंकि स्तोत्र में केवल युगादि ऋषभदेव को ही उद्बोधन है । उसमें कहीं भी वर्तमान चौबीसी के अन्य तीर्थकरों और इनके अलावा महाविदेह क्षेत्र के २० तीर्थकरों का किसी रूप में वर्णन नहीं है, न परोक्ष रूप से उनका उल्लेख है । इस तथाकथित “वृद्ध परम्परा”

का वास्तविकता से कोई मेल नहीं । भक्तामर के किसी वृत्तिकार ने ऐसा नहीं बताया है । यह बात बिलकुल ही मान्य नहीं हो सकती है ।

इस विषय में पं० अजयकुमार जैन शास्त्री ने जो कुछ और कहा है, यहाँ प्रस्तुत करके उस पर गौर करेंगे । उनका कहना है कि “श्वेताम्बर सम्प्रदाय में कल्याणमन्दिरस्तोत्र तो दिगम्बर सम्प्रदाय के समान ४४ श्लोकों वाला ही माना जाता है किन्तु भक्तामरस्तोत्र को श्वेताम्बर सम्प्रदाय, ४८ श्लोकों वाला न मानकर ४४ श्लोकों वाला ही मानता है । ३२-३३-३४-३५ नंबर के चार पद्य श्वेताम्बर सम्प्रदाय ने अपने भक्तामरस्तोत्र में से निकाल दिए हैं । इसीसे प्रचलित भक्तामरस्तोत्र साम्प्रदायिक भेद से दो रूप में पाया जाता है ।

भक्तामरस्तोत्रमें दिगम्बर सम्प्रदायकी मान्यतानुसार ४८ श्लोक ही क्यों नहीं हैं ? इसका उत्तर तीन प्रकार से प्राप्त होता है । एक तो यह कि जब कल्याणमन्दिरस्तोत्र ४४ श्लोकों का है तब उसकी जोड़का भक्तामरस्तोत्र भी ४४ श्लोकों का होना चाहिए वह ४८ श्लोकों का कैसे हो ?

दूसरे, भरतक्षेत्र के २४ तीर्थकर और विदेह क्षेत्रों के २० वर्तमान तीर्थकरों की कुल संख्या ४४ हुई, इस संख्या के अनुसार भक्तामरस्तोत्र के श्लोकों की संख्या भी ४४ होनी चाहिये ।

तीसरे, श्वेताम्बर जैन गुरुकुलके एक स्नातकसे यह उत्तर प्राप्त हुआ कि भक्तामरस्तोत्र एक मंत्रशक्ति से पूर्ण स्तोत्र है । उसके मंत्रों को सिद्ध करके मनुष्य उन मंत्रों के अधीन देवों को बुला बुला कर तंग करते थे । देवोंने अपनी व्यथा मानतुंगाचार्य को सुनाई कि, महाराज ! आपने भक्तामर स्तोत्र बनाकर हमारी अच्छी आफ़त ले डाली । मंत्रसिद्ध करके लोग हमें चैनसे नहीं बैठने देते — हर समय मंत्रशक्ति से बुलाबुलाकर हमें परेशान करते रहते हैं । मानतुंगाचार्यने देवों पर दया करके भक्तामरस्तोत्र में से चार श्लोक निकाल दिये । अतः भक्तामर ४४ श्लोकोंवाला ही होना चाहिये ।

यदि इन समाधानों पर विचार किया जाय तो तीनों ही समाधान निःसार जान पड़ते हैं । मानतुंगाचार्य और कुमुदचन्द्राचार्य का आपस में कोई समझौता नहीं था कि हम दोनों एक-सी ही संख्या के स्तोत्र बनायें । हरएक कवि अपने अपने स्तोत्र की पद्य-संख्या रखने में स्वतंत्र है । दूसरे मानतुंगाचार्य कुमुदचन्द्राचार्य से बहुत पहले हुए हैं । अतः पहली बात के अनुसार भक्तामर के श्लोकों की संख्या ४४ सिद्ध नहीं होती ।

दूसरा समाधान भी उपहासजनक है । भिन्न भिन्न दृष्टि से तीर्थकरों की संख्या २४-४८-७२ आदि अनेक बतलाई जा सकती है । भरतक्षेत्र के २४ तीर्थकर हैं तो उनके साथ समस्त विदेह के २० तीर्थकर ही क्यों मिलाये जाते हैं ? ऐरावतक्षेत्र के २४ तीर्थकर या ढाई-द्वीप के समस्त भरतक्षेत्र के तीर्थकरों की संख्या क्यों नहीं ली जाती ? तीर्थकरोंकी संख्या के अनुसार स्तोत्रों की पद्य संख्या का हीन मानना नितान्त भोलापन है और वह दूसरे स्तोत्रों की पद्य-संख्या को दूषित कर देगा । अतः दूसरी बात भी व्यर्थ है ।

अब रही तीसरी बात, उसमें भी कोई सार प्रतीत नहीं होता क्योंकि भक्तामरस्तोत्र का प्रत्येक

श्लोक जब मंत्र-शक्ति से पूर्ण है और प्रत्येक श्लोक मंत्र रूप से कार्य में लिया जा सकता है । तब देवों का संकट हटाने के लिए मानतुंगाचार्य सिर्फ चार श्लोकों को ही क्यों हटाते ? सबको क्यों नहीं ? क्योंकि यदि सचमुच ही भक्तामरस्तोत्र के मंत्राराधन से देव तंग होते थे और मानतुंगाचार्य को उन पर दया करना इष्ट था तो उन्होंने शेष ४४ श्लोकों को देवों की विपत्ति के लिए क्यों छोड़ दिया ? इसका कोई समुचित उत्तर नहीं हो सकता ।

अतः इन समाधानों से तो भक्तामरस्तोत्र के श्लोकोंकी संख्या ४४ सिद्ध नहीं होती”^{१०}

अजयकुमार जैन शास्त्री को श्वेताम्बर से जो तीन उत्तर मिले थे उसमें तीसरा तो किसी गुरुकुल के लड़के ने मौखिक दिया था, और पहले दो का कोई आधार उन्होंने उद्धृत नहीं किया है । उनमें से पहला तो कहीं सुनने में नहीं आया । पहली बात तो यह कि कल्याणमन्दिर के आधार पर भक्तामर नहीं, भक्तामर के आधार पर कल्याणमन्दिरस्तोत्र बन सकता है, बना है । पद्य संख्या में भी यदि अनुकरण हुआ हो तो वह मध्यकाल में होने वाले कुमुदचन्द्राचार्य द्वारा प्राचीन मानतुंग की रचना को लेकर, न कि उससे विरुद्ध प्राचीन मानतुंग के द्वारा मध्यकालीन कुमुदचन्द्राचार्य का ! इसमें मानतुंगाचार्य और कुमुदचन्द्राचार्य का समकालीन होना आवश्यक नहीं है । अनुकरण कभी भी बाद में हो सकता है । हेमचन्द्राचार्य ने १२ वीं शताब्दी में सिद्धसेन दिवाकर और समन्तभद्र का अनुकरण अपनी द्वात्रिंशिकाओं में किया है, और ऐसा करने में उनका इन दोनों प्राचीन स्तुतिकारों से “समझौता” करने की जरूरत नहीं थी, न वह कर सकते थे । दूसरे उत्तर के बारे में हम पीछे कह चुके हैं । अन्तर इतना है कि हम इसको (और उसके संग ही पहले वाले उत्तर को), अजितकुमार जी की तरह, ‘उपहासजनक’ कहना ठीक नहीं समझते । इन अज्ञानमूलक बातों को दयनीय कहना अधिक संगत होगा । अब रही तीसरे उत्तर की बात । श्वेताम्बर जब से आगमों की अवज्ञा एवं उपेक्षा करके मन्त्र-तन्त्र में फँसे, तब से वहाँ भी दिगम्बर सम्प्रदाय की तरह ही मान्त्रिक के अलावा तान्त्रिक स्तोत्रों की भी रचना होने लगी। इतना ही नहीं, जो पुरातन स्तोत्र मन्त्रपूत नहीं थे उनको भी मन्त्रशक्तियुक्त माना गया, और वह भी यहाँ तक कि “‘लोगस्ससूत्र (चउविसत्थो)” एवं दशवैकालिकसूत्र की प्रसिद्ध आरम्भगाथा “‘धम्मो-मंगलमुक्किट्ठु” को और महामंगलमय माने जाते ‘पञ्चपरमेष्ठि’ नमस्कार मंगल को भी नहीं छोड़ा! और मन्त्र-तन्त्र पर श्वेताम्बरों में जैसे-जैसे दिलचस्पी बढ़ती गई अनेक महिमावर्धक एवं चामत्कारिक किंवदन्तियाँ भी प्रचार में आती गई । भद्रकीर्ति (बप्पभट्टि सूरि, प्रायः ईस्वी ७४४-८३९) के शारदास्तव में से मन्त्राम्नाय वाला पद्य लुप्त कर दिया गया है, सिद्धसेन दिवाकर के हाथ में आया हुआ मन्त्र-ग्रन्थ उनको पूरा पढ़ने से पहले देवता ने छीन लिया, इत्यादि । यह सब देखते हुए भक्तामरस्तोत्र के बारे में चलती मध्यकालीन एवं आधुनिक किंवदन्तियों की भर्त्सना व आलोचना न शोध-प्रयासों में सार्थक सिद्ध हो सकेगी, और न वह उपयुक्त है । दरअसल बात तो यहाँ पर यह थी कि भक्तामरस्तोत्र में मूलतः ४८ पद्य थे तो इनमें से चार को श्वेताम्बरों ने यदि हटा दिया तो क्यों हटा दिया ? इसका तो कोई युक्तिसंगत उत्तर अजयकुमार जैन शास्त्री की चर्चा में नहीं मिलता । उन्होंने उस दिशा में खोज का कोई खास प्रयत्न ही नहीं किया ।

इस '४४ विरुद्ध ४८' पद्यों की समस्या पर विशेष विचार करने से पहले दिगम्बर-मान्य पाठ के जो चार अधिक पद्य हैं, उन्हें देख लेना आवश्यक है । ये अतिरिक्त चार पद्य चार और महाप्रातिहार्य—देवदुन्दुभि, पुष्पवृष्टि, भामण्डल और दिव्यध्वनि—से सम्बद्ध हैं । ये पद्य श्वेताम्बर-मान्य मूल कृति के ३१वें पद्य के बाद ३२से ३५ क्रम में मिलते हैं, एवं दिगम्बर सम्प्रदाय में मूलकर्ता के और इसलिए प्रमाणभूत माने जाते हैं । यथा :

गम्भीर-तार-रव-पूरित-दिग्विभाग-
 श्रैलोक्य-लोक-शुभ-संगम-भूति-दक्षः ।
 सद्धर्मराज-जय-घोषण-घोषकः सन्
 खे दुन्दुभिर्नदति ते यशसः प्रवादी ॥
 मन्दार-सुन्दर-नमेरु-सुपारिजात,
 सन्तानकादि-कुसुमोत्कर-वृष्टि-रुद्धा ।
 गन्धोद-बिन्दु-शुभ-मन्द-मरुत्प्रयाता
 दिव्या दिवः पतति ते वयसां ततिर्वा ॥
 शुम्भत्प्रभा-वलय-भूरि-विभा विभोस्ते
 लोक-त्रये द्युतिमतां द्युतिमाक्षिपन्ती ।
 प्रोद्यद्दिवाकर-निरन्तर-भूरि-संख्या
 दीप्त्या जयत्यपि निशामपि सोम-सौम्याम् ॥
 स्वर्गापवर्ग-गम-मार्ग-विमार्गणोष्टः
 सद्धर्म-तत्त्व-कथनैक-पटुस्त्रिलोक्याः ।
 दिव्य-ध्वनिर्भवति ते विशदार्थ-सर्व-
 भाषा-स्वभाव-परिणाम-गुण-प्रयोज्यः ॥

परन्तु बात यहाँ तक ही सीमित नहीं है । महामना डा० ज्योतिप्रसाद जैन का कहना है कि “दूसरी और, भक्तामर की कतिपय प्राचीन हस्तलिखित प्रतियों में चार-चार श्लोकों के ४ विभिन्न गुच्छक प्रचलित ४८ श्लोकों के अतिरिक्त प्राप्त हुए हैं । इस प्रकार उनमें से प्रत्येक पाठ ५२ श्लोकी है और कुल प्राप्त श्लोकों की संख्या ६४ हो जाती है । किन्तु इन अतिरिक्त १६ श्लोकों के सम्बन्ध में प्रायः सभी मनीषियों का यह मत है कि भाषा, अर्थ, रचनाशैली, पुनरुक्ति दोष आदि अनेक कारणों से वे श्लोक मानतुंगकृत नहीं हो सकते, कालान्तर में विभिन्न लोंगो ने गढ़कर जोड़ दिये हैं^{११}” । डाक्टर साहब का यह कथन तो ठीक है, लेकिन इसमें तीन बातें छूट जाती हैं । यह सब विशेष गुच्छक विशेषकर दिगम्बर सम्प्रदाय के स्रोतों से ही मिले हैं; वे इन सभी चार प्रातिहार्यों से सम्बद्ध हैं जो भक्तामर के श्वेताम्बर पाठ में नहीं हैं; और वे सभी वसन्ततिलका-वृत्त में निबद्ध हैं । इस सन्दर्भ में ये तीनों तथ्य विचारणीय बन जाते हैं । इस विषय में विशेष कुछ कहने से पहले उन सब अतिरिक्त गुच्छकों को भी देख लेना आवश्यक है ।

सबसे पहले पं० अजितकुमार जैन को मिले हुए ऐसे चार पद्यों को यहाँ पेश करेंगे ।

नातः परः परमवचोभिधेयो,
 लोकत्रयेऽपि सकलार्थविदस्ति सार्वः ।
 उच्चैरितीव भवतः परिघोषयन्त-
 स्ते दुर्गभीरसुरदुन्दुभयः सभायाम् ॥१॥

वृष्टिर्दिवः सुमनसां परितः पपात,
 प्रीतिप्रदा सुमनसां च मधुव्रतानाम् ।
 राजीवसा सुमनसा सुकुमारसारा,
 सामोदसम्पदमदाजिन ते सुदृश्यः ॥२॥

पूष्मामनुष्य सहसामपि कोटिसंख्या-
 भाजां प्रभाः प्रसरमन्वहया वहन्ति ।
 अन्तस्तमःपटलभेदमशक्तिहीनं,
 जैनी तनुद्युतिरशेषतमोऽपि हन्ति ॥३॥

देव त्वदीय सकलामलकेवलाय,
 बोधातिगाधनिरुपप्लवरत्नराशेः ।
 घोषः स एव इति सज्जनतानुमेते,
 गम्भीरभारभरितं तव दिव्यघोषः ॥४॥

इस पर टिप्पणी करते हुए उन्होंने लिखा है : “इन श्लोकों के विषय में यदि क्षणभर विचार किया जाय तो चारों श्लोक भक्तामर स्तोत्र के लिए व्यर्थ ठहरते हैं; क्योंकि इन श्लोकों में क्रमशः दुन्दुभि, पुष्पवर्षा, भामंडल तथा दिव्यध्वनि इन चार प्रातिहार्यों को रखा गया है और ये चारों प्रातिहार्य इन श्लोकों के बिना ४८ श्लोक वाले भक्तामर स्तोत्र में ठीक उसी ३२-३३-३४-३५ वीं संख्या के पद्यों में यथाक्रम विद्यमान हैं । अतः ये चारों श्लोक भक्तामर स्तोत्र के लिए पुनरुक्ति के रूप में व्यर्थ ठहरते हैं; इनकी कविता-शैली भी भक्तामर स्तोत्र की कविता-शैली के साथ मेल नहीं खाती । अतः ५२ श्लोक वाले भक्तामर स्तोत्र की कल्पना निःसार है और न अभी तक किसी विद्वान् ने इसका समर्थन ही किया है^{१३} ।”

पं० अजितकुमार के दिये हुए उपर्युक्त चार पद्यों को अपने लेख में उद्धृत करके कटारिया महाशय इन पर अपनी टिप्पणी करते हुए इस प्रकार लिखते हैं - “किन्तु इन श्लोकों में भी प्रातिहार्य का वर्णन होने से ये पुनरुक्त हैं और असंगत हैं^{१३} ।” आगे चलकर वे ऐसे कुछ और गुच्छक दिगम्बर स्रोतों में से उद्धृत करते हैं^{१४} । ““जैन मित्र” फाल्गुन सुदी ६ वीर सं० २४८६ के अंक में भी इनसे भिन्न चार श्लोक छपे हैं । हमारे पास के १-२ गुटकों में भी ये ४ श्लोक हैं ।

यः संस्तुवे गुणभृतां सुमनो विभाति,
 यः तस्करा विलयतां विबुधाः स्तुवन्ति ।
 आनन्दकन्द हृदयाम्बुजकोशदेशे,
 भव्या व्रजन्ति किल याऽमरदेवताभिः ॥१॥

इत्थं जिनेश्वर सुकीतयतां जिनोति,
 न्यायेन राजसुखवस्तुगुणा स्तुवन्ति ।
 प्रारम्भभार भवतो अपरापरां या,
 सा साक्षणी शुभवशो प्रणमामि भक्त्या ॥२॥

नानाविधं प्रभुगुणं गुणरत्न गुण्या,
 रामा रमन्ति सुरसुन्दर सौम्यमूर्तिः ।
 धर्मार्थकाम मनुयो गिरिहेमरत्नाः,
 उध्यापदो प्रभुगुणं विभवं भवन्तु ॥३॥

कर्णो स्तुवेन नभवानभवत्यधीशः,
 यस्य स्वयं सुरगुरु प्रणतोसि भक्त्या ।
 शर्मार्धनोक यशसा मुनिपद्मरंगा,
 मायागतो जिनपतिः प्रथमो जिनेशः ॥४॥^{१४}

इसकी संक्षिप्त समीक्षा में विद्वद्वर्य ने कहा - “पर ये भी मूल ग्रन्थकार कृत नहीं हैं क्योंकि भक्तामर स्तोत्र के पठन का फल बताकर स्तोत्र को वहीं समाप्त कर दिया है अतः यह अतिरिक्त श्लोक किसी ने बाद में बनाये हैं, इनकी रचना भी ठीक नहीं है और अर्थ भी सुसंगत नहीं है ।”^{१५}

श्रीमान् कटारिया आगे चलकर कहते हैं कि, “इनके सिवा भी हमारे पास के १ गुटके में ४ श्लोक और पाये जाते हैं जिन्हें बीज काव्य लिखा है इनकी भी स्थिति उपरोक्त ही है वे भी मूल स्तोत्रकार कृत नहीं हैं । वे चार पद्य इस प्रकार हैं -

बीजकं काव्यम् :-

ओं आदिनाथ अर्हन्सुकुलेवतंसः,
 श्रीनाभिराज निजवंश शशिप्रतापः ।
 इक्ष्वाकुवंश रिपुमर्दन श्रीविभोगी,
 शाखा कलापकलितो शिव शुद्धमार्गः ॥१॥

कष्ट प्रणाश दुरिताप समावनाहि-
 अंभोनिधौ दुखय तारक विघ्नहर्ता ।
 दुखाविनारि भय भग्नति लोह कष्टं-
 तालोर्द्धघाट भयभीत समुत्कलापाः ॥२॥

श्रीमानतुंग गुरुणा कृत बीज मंत्रः,
यात्रा स्तुतिः किरण पूज्य सुपादपीठः ।
भक्तिभरो हृदयपूर विशाल गात्रा-
कौ धौ दिवाकर समां वनितांजनांहीं ॥३॥

त्वं विश्वनाथ पुरुषोत्तम वीतरागः
त्वं जैन राग कथिता शिवशुद्धमार्गा ।
त्वौच्चाट भंज नव पुःखल दुःखटालान्-
त्वं मुक्तिरूप सुदया पर धर्मपालान् ॥४॥ ११६

यह चतुष्क अलबत्ता प्रातिहार्य संबद्ध नहीं है, किन्तु बात यहीं तकही नहीं रुकती जाती, एक और भी गुच्छक है । डा० कापड़िया को वह खण्डित रूप में, २.५ पद्य के रूप में मिला था । पर साराभाई नवाब को मन्त्र पोथियों में से वही पूर्णरूपेण मिल गया था । सिर्फ 'दिव्यध्वनि' वाला तीसरा पद्य दोनों में भिन्न प्रकार का है, यथा-

“विष्वग्विभोः सुमनसः किल वर्षयन्ति ।
दिग्बन्धनाः सुमनसः किमु ते वदन्ति ॥
त्वतसङ्गताविहसतां जगती समस्ता-
स्त्यामोदिनी विहसता मुदयेन धाम्नः ॥१॥

द्वेधापि दुस्तरतमः श्रमविप्रणाशा-
त्साक्षात्सहस्रकरमण्डलसम्भ्रमेण ।
वीक्ष्य प्रभोर्वपुषि कश्चनकाश्चनाभं
प्रोद्बोधनं भवति कस्य न मानसाब्जम् ॥२॥

भाषाविशेषपरिणामविधौ पटिष्ठो
जीवादितत्त्वविशदीकरणे समर्थः ।
दिव्यध्वनिर्ध्वनितदिग्वलयस्तवार्ह-
त्राकर्षति प्रवरमोक्षपथे मनुष्यान् ॥३॥

विश्वैकजैत्रभटमोहमहामहेन्द्रं ।
सद्यो जिगाय भगवान् निगदन्निवेत्थम् ।
सन्तर्जयन् युगपदेव भयानि पुंसां
मन्द्रध्वनिर्नदति दुन्दुभिरुच्चकैस्ते ॥४॥ ११७

जो भिन्न पाठान्तर-स्वरूप तीसरा पद्य है वह निम्नलिखित है, और कापड़िया जी को खंडित गुच्छक में वही प्राप्त हुआ था, यथा-

“दिव्यो ध्वनिध्वनितदिग्वलयस्तवारहन् !,
 व्याख्यातुरुत्सुकयतेऽत्र शिवाध्वनीयाम् ।
 तत्त्वार्थदेशनविधौ ननु सर्वजन्तुं,
 भाषाविशेषमधुरः सुरसार्थपेयः ॥३॥”^{१८}

पुणें स्थित भंडारकर प्राच्य विद्या शोध-संस्थान में संरक्षित एक प्रति में “मानतुंगीय काव्य चतुष्टयी” के नाम से वही चार पद्य हैं परन्तु इसमें तीसरे पद्य का पाठ कापड़िया जी के दिये हुए पाठ के सदृश है^{१९} ।

इस सिलसिले में अब श्वेताम्बर विद्वानों में से साराभाई नवाब का कुछ और मंतव्य यहाँ उपस्थित करना उपयुक्त होगा । “४८ पद्यों की मान्यता श्वेताम्बरों में भी पहले थी और यदि ऐसा न होता तो प्रस्तुत ग्रन्थ (महाप्रभाविक नवस्मरण) में दिये हुए श्री हरिभद्रसूरि कृत यंत्रों की संख्या ४४ ही होनी चाहिए थी, इसलिए हमें ऐसा मानने के लिए कारण मिलता है कि भक्तामर के ४८ श्लोकों पर अलग-अलग ४८ यंत्रों तथा तंत्रों के रचयिता श्री हरिभद्रसूरि के समय में तो भक्तामर के श्लोकों की संख्या ४८, श्वेताम्बर सम्प्रदाय में प्रचलित थी क्योंकि चतुर्थ स्मरण “तिजयपहुत” की स्तोत्रानुकृति के रचयिता हरिभद्रसूरि सम्बन्धी चर्चा करते हुए मैंने जो तीन हरिभद्रसूरि का उल्लेख किया है वे तीनों श्वेताम्बराचार्य ही थे, और दिगम्बरों में उस नाम के कोई आचार्य हुए ऐसा उल्लेख भी नहीं मिलता, अब प्रश्न यह होता है कि इन यंत्रों तथा तंत्रों के रचयिता कौनसा हरिभद्रसूरि होना चाहिए ? मेरी मान्यतानुसार तो ऊपर उल्लिखित तीन में से दूसरे या तीसरे हरिभद्रसूरि की ही रची हुई ये यंत्र कृतियाँ तथा तन्त्र वगैरह होने चाहिए ।”^{२०} साराभाई प्रचलित “गम्भीरतार०” वाले चार अतिरिक्त पद्यों के स्थान पर “विष्वग्विभोः सुमनसः” से लेकर शुरू होने वाले चार वैकल्पिक पद्यों को पेश करके आगे लिखते हैं कि “फ़िर जैन श्वेताम्बर भण्डारों में रही हुई यंत्रोंवाली करीब सौ से अधिक हस्तलिखित प्रतियाँ मैंने तलाशी हैं, उन सब प्रतियों में ४८ गाथाएँ और सम्बन्धित ४८ ही यन्त्र मिलते हैं । इन ४८ यंत्रों के सिवा दूसरी ४४ यंत्रों वाली कोई भी प्रति श्वेताम्बर भण्डार में मेरे देखने में अथवा सुनने में भी नहीं आई और ऋद्धि के पद भी ४८ ही हैं, इसलिए यन्त्र भी ४८ और काव्य भी ४८ ही होने चाहिए । चार काव्य गम्भीरतार० से शुरू होता हो या विष्वग्विभो० से शुरू होता हो या तीसरा हो इस बात में आपत्ति नहीं; इसलिए मेरी मान्यतानुसार तो भक्तामर के प्राचीन टीकाकार श्री गुणाकर सूरि के पश्चात् अर्थात् वि० सं० १४२६ के बाद से श्वेताम्बर सम्प्रदाय में भक्तामर के ४४ पद्य होने की मान्यता शुरू हुई थी, वह निश्चित करना बहुत मुश्किल है, कारण कि उनकी टीका ४४ श्लोकों पर रची हुई है और बाद के भक्तामर पादपूर्ति काव्य भी मोटे तौर पर ४४ ही श्लोकों पर रचे हुए हैं । जो कुछ भी हो, दोनों मान्यताएँ प्राचीन हैं और दोनों प्रकार के अड़तालीस काव्यों पर यंत्रों के मिलने से मैं ने भी प्रस्तुत ग्रन्थ में अड़तालीस ही पद्य देना उचित समझकर अड़तालीस पद्य छपवाये हैं”^{२१} ।

साराभाई नवाब के इस कथन में अनेक विप्रतिपत्तियाँ हैं, और कुछ तो काफ़ी हद तक आपत्तिजनक भी । पहली बात यह कि गुणाकर सूरि के सामने ईस्वी १३७० में जो भक्तामर की प्रतियाँ

थी उनमें भी ४४ पद्य होंगे । उनको खुद ही स्तोत्र में आठ की जगह चार ही प्रातिहार्यों की घटना से सम्बद्ध समाधान प्रस्तुत करना पड़ा था । यथा : “अत्र प्रातिहार्य-प्रस्तावना प्रस्तावेऽनुक्त अपि पुष्पवृष्टि-दिव्यध्वनि-भामण्डल-दुन्दुभयस्वधियाऽवतार्याः एतत् सर्वं यत्राशोकतरोः प्रादुर्भावस्तत्र स्याद् देशनाक्षणे । अशोकतरू सहचरितत्वात् पृथग् नाहताः कविना ।” यह समाधान कुछ बुद्धिपूर्वक तो किया गया है फिर भी समीचीन प्रतीत नहीं होता । उधर गुणाकर सूरि से ९३ वर्ष पूर्व प्रभाचन्द्राचार्य के पास भी ४४ पद्यों वाली प्रतियाँ थीं, और उनके समय से भी पचास-सौ साल पूर्व की जितनी ताड़पत्रीय पोथियाँ इस समय उपलब्ध हैं, इन सब में भी ४४ पद्य ही हैं । और यह बात भी ध्यान में रखने लायक है कि इन पुरानी प्रतियों के लिपिकारों के सामने अपने समय से पूर्व की आदर्श रूप प्रतियों में ४४ ही पद्य रहे होंगे । तभी तो उन सभी की नकलों में ४४ पद्य ही दिखाई देते हैं । इस हकीकत को देखकर गुणाकर सूरि की वृत्ति के बाद ही श्वेताम्बर पाठ में असल के आठ की जगह चार प्रातिहार्य हो गये, ऐसा साराभाई का कथन कतई सही नहीं है ।

अब रही मन्त्राम्नाय वाले हरिभद्रसूरि की बात । उस अभिधानधारी कोई मुनि दिगम्बर सम्प्रदाय में नहीं हुए, इस तथ्य का कोई विरोध नहीं । साराभाई ने तीन हरिभद्र सूरियों का निर्देश दिया है । पर वस्तुतया करीब सात सूरिवर इस नाम के हुए हैं । पहले याकिनीसूनु (कर्मकाल प्रायः ईस्वी ७४५-७८५) जो आदिम हरिभद्र सूरि रहे । दूसरे थे चन्द्रगच्छ के देवेन्द्रसूरि (प्रायः ईस्वी १२४२) के सप्तम पूर्वज, जिनका समय ईस्वी ११वीं शती का मध्यभाग या अन्तिम चरण रहा होगा । तीसरे थे बृहद्गच्छीय जिनदेवशिष्य हरिभद्र, जिन्होंने ईस्वी १११६ में बंधस्वामीत्व और षडशीति पर टीका, और ई० स० ११२९ में उमास्वाति के प्रशमरतिप्रकरण पर वृत्ति लिखी थी । चौथे हरिभद्र बृहद्गच्छीय श्रीचन्द्र के शिष्य थे । सोलंकी सम्राट् कुमारपाल ई० स० (११४४-११७३) के मन्त्री पृथ्वीपाल के वे गुरु रहे, और उन्होंने तीर्थकरों के प्राकृत एवं अपभ्रंश में चरितों की रचना की थी । पाँचवें हरिभद्र उनकी अमोघ देशना के कारण ‘कलिकालगौतम’ कहे जाते थे । मन्त्रीश्वर वस्तुपाल के कुलगुरु नागेन्द्रगच्छीय विजयसेन सूरि के वे गुरु रहे, जो ईस्वी १२वीं शती के आखिरी चरण में विद्यमान थे । छठे हरिभद्र वस्तुपाल मन्त्री के विद्यामण्डल के चन्द्रगच्छीय बालचन्द्र सूरि के गुरु थे, जिनका समय ईस्वी १२वीं-१३वीं शती है और सातवें हरिभद्र बृहद्गच्छ में ईस्वी १३वीं शताब्दी के अन्तभाग और १४वीं के प्रारंभ में हुए थे । हम नहीं समझते कि इनमें से किसी भी हरिभद्र ने भक्तामरस्तोत्र के मन्त्राम्नाय को बनाया हो । मन्त्रतन्त्राम्नाय वाली सभी पोथियाँ ४८ पद्य वाली एवं उत्तरमध्यकालीन हैं । इसकी एक भी प्राचीन हस्तप्रति नहीं मिली है । इसके अलावा इनमें सभी ४८ यन्त्र वही हैं जो दिगम्बर मान्त्रिक पोथियों में मिलते हैं । यदि ऐसी मन्त्रतन्त्रपूत प्राचीन रचनाएँ अपने सम्प्रदाय में होतीं तो अनेकों में से किसी न किसी श्वेताम्बर भक्तामरटीकाकार ने उसका उल्लेख किया ही होता । दरअसल पश्चात्कालीन दिगम्बर पोथियों की नकल करके, और हरिभद्र का नाम उसके संग जोड़कर उसको प्रमाणभूत मनवाने की करामात मात्र यहाँ दिखाई देती है । गुणाकरसूरि ने अपने समय में प्रचलित केवल १८ ही मन्त्राम्नाय दिया है, ४४ नहीं । ताज्जुबी की बात तो यह है कि साराभाई को इस बात की परवाह ही नहीं है कि हरिभद्र के नाम पर चढ़ाई हुई, या अन्यथा, यन्त्रोंवाली प्रतियों में अतिरिक्त ४ प्रातिहार्यों के एक

नहीं, दो प्रकार के गुच्छक मिलते हैं । उनको तो मतलब मन्त्रतन्त्राम्नाय सहित के “४८” पद्यों से ही था, और वह पूरा हो जाय तो इतना पर्याप्त था । गुच्छक भले कोई भी हों, चल सकता था । ऐसी युक्तियों से तो प्राचीन काल में श्वेताम्बर पाठ में भी भक्तामर के ४८ ही पद्य थे, ऐसा उनका कहना ज़रा भी समीचीन सिद्ध नहीं होता । इससे तो केवल उनका मंत्र-तंत्र पर रहा लाजवाब आदर एवं प्यार का ही सबूत मिलता है ।

दिगम्बर-मान्य पाठ में “गम्भीरतार०” वाले ४ अतिरिक्त पद्यों की विशेष मान्यता है, पर वह भी असली है कि नहीं यह मुद्दा परीक्षा-पात्र है । यद्यपि उन्होंने कुछ विवरण नहीं दिया फिर भी दुर्गाप्रसाद शास्त्री (और उनके सहयोगी वासुदेव लक्ष्मण शास्त्री पुणसिकर) की इस विषय पर राय कुछ ऐसी रही है कि वे नकली हैं । उनका निष्कर्ष रहा कि “गम्भीरित्यादि चत्वारि पद्यानि तु केचन पण्डितमन्येन निर्माय मणिमालायां काचशकलानीव मानतुङ्गकवितायां प्रवेशितानि इत्यपि तद्विलोकनमात्रेणैव कवित्वमर्म विद्भिर्विद्विर्द्विर्वोढुं शक्यते ।”^{२३} कापड़िया जी ने भी अपनी संस्कृत प्रस्तावना में शास्त्री जी का उपर्युक्त अभिप्राय उद्धृत किया है, और कहा है कि “अनेन सूच्यते चेतत्पद्यप्रक्षेप इति ।”^{२४} आश्चर्य है, डा० ज्योतिप्रसाद जैन ने इन अभिप्रायों को ध्यान में लिया ही नहीं ।

ऐसा लगता है कि दिगम्बर सम्प्रदाय में भक्तामरस्तोत्र का प्रचार हो जाने के पश्चात् वहाँ स्तोत्र में पूरे आठ प्रातिहार्य होना चाहिए ऐसा समझकर चार प्रतिहार्यों की कमी पूरी करने का पृथक्-पृथक् चार, और एक दूसरे से अनभिज्ञ, प्रयत्न प्रायः १४वीं-१५वीं शती में हुए । तात्पर्य यह कि वहाँ भी मूल स्तोत्र में चार ही प्रातिहार्यों से सम्बद्ध पद्य थे और इसलिए सब मिलकर ४४ ही ।

इस अनुलक्ष में अब हम दिगम्बर मनीषियों के कुछ और विचारों की समीक्षा करने की स्थिति में आ गये हैं । इस सन्दर्भ में पहले डा० नेमिचन्द्र का अवलोकन प्रस्तुत करेंगे । उनके अनुसार “मानतुंग ने भक्तामर स्तोत्र की रचना की । दोनों सम्प्रदायों ने अपनी-अपनी मान्यता के अनुसार इसे अपनाया । आरम्भ में इस स्तोत्र में ४८ काव्य-पद्य थे । प्रत्येक पद्य में काव्यत्व रहने के कारण ही ४८ पद्यों को ४८ काव्य कहा गया है । इन ४८ पद्यों में से श्वेताम्बर सम्प्रदाय ने अशोकवृक्ष, सिंहासन, छत्र और चामर इन चार प्रातिहार्यों के निरूपक पद्यों को ग्रहण किया तथा दुन्दुभि, पुष्पवृष्टि, भामण्डल और दिव्यध्वनि इन चार पद्यों को निकाल कर इस स्तोत्र में ४४ पद्य ही माने । इधर दिगम्बर सम्प्रदाय की कुछ हस्तलिखित प्रतियों में श्वेताम्बर सम्प्रदाय द्वारा निकाले हुए चार प्रातिहार्यों के बोधक चार नये पद्य और जोड़कर पद्य की संख्या पूरी गढ़ ली गई ।”^{२५} “भागलपुर वीर नि० सं० २४९० में प्रकाशित हुआ है; वृष्टिर्दिवः सुमनसां परितः प्रयात (३५), दुष्णामनुष्य सहसामपि कोटिसंख्या (३७), देव त्वदीयसकलामल केवलीव (३९) पद्य अधिक मुद्रित हैं । वस्तुतः इस स्तोत्र-काव्य में ४८ ही मूल पद्य हैं ।”^{२६} पहली तो यह बात समझ में नहीं आती कि श्वेताम्बर सम्प्रदाय प्रातिहार्य निरूपक चार विशेष पद्य यदि मूल में थे तो निकाल क्यों दें ? और जब दिगम्बर सम्प्रदाय में मूल ४८ पद्य थे ही तो वे श्वेताम्बरों द्वारा हटा दिये गये ४ पद्य के स्थान पर नये गढ़ कर अपनी प्रतियों में ४८ के स्थान पर ५२ क्यों कर दें ? ऐसी चेष्टा किस फ़र्ज़ को लेकर, कौन सी पूर्ति करने के लिए की गई थी ? और एक

नहीं, ऐसे चार-चार (या पांच-पांच) प्रकार के पद्य-गुच्छक भी बन जायें । असल में दिगम्बर सम्प्रदाय के विद्वद् मुनियों, वर्णियों, भट्टारकों के सामने भी ४४ पद्यों वाली ही मूल कृति थी, और उसको प्रातिहार्यों के विषय में अपूर्ण मानकर पूर्ण करने के अनेक भिन्न-भिन्न प्रयत्न अलग-अलग देशकाल में हुए । जब “गम्भीरतरा” वाला गुच्छक विशेष प्रचार में आ गया तो और गुच्छकों को फेंक देने के बजाय पश्चात्कालीन पृथक्-पृथक् प्रतियों में उनको भी कहीं न कहीं विशेष पद्यों के रूप में संगृहीत करके रख लिया गया, जिससे कुछ प्रतियों में पद्य संख्या ५२ बन गई ।

श्वेताम्बर विद्वानों में अगरचंद नाहटा की मान्यता में भी भक्तामरस्तोत्र के मौलिक पद्य ४४ ही थे, और चार-चार पद्य वाले गुच्छक, जो दिगम्बर स्तोत्रों में पाये जाते हैं, उनको वे असली नहीं मानते थे । इस पर टिप्पण करते हुए ज्योतिप्रसादजी ने लिखा है : “उपरोक्त सन्दर्भ में उल्लिखित सभी विद्वानों ने भक्तामर की श्लोक संख्या पर विचार किया है । जब कि श्री अगरचन्द नाहटा का आग्रह है कि श्वेताम्बर परम्परा सम्मत ४४ श्लोकी पाठ ही मूल एवं प्राचीनतम पाठ है । अन्य सब विद्वानों ने दिगम्बर परम्परा सम्मत ४८ श्लोकी पाठ को ही मूल एवं प्राचीनतम सिद्ध किया है, जिसके लिए उन्होंने प्रमाण एवं युक्ति का सफल प्रयोग किया है और प्रतिपक्ष द्वारा प्रस्तुत हेतुओं को निस्सार ठहराया है । स्वयं हमने भी अन्यत्र इस समस्या पर विचार किया है^{२७} ।”

ज्योतिप्रसादजी जो “अन्य सब विद्वानों” का उल्लेख करते हैं वे “सभी” दिगम्बर सम्प्रदाय के ही विद्वान् थे । ये हैं पं० अजितकुमार जैन शास्त्री, श्रीमान् रतनलाल कटारिया, डा० नेमिचन्द्र शास्त्री, एवं पं० अमृतलाल शास्त्री । इन मनीषियों के मंतव्यों की, उनकी दी गई युक्तियों की, हम ऊपर सोद्धरण समीक्षा कर चुके हैं । उनमें इस विषय को लेकर “प्रमाण और युक्ति का सफल प्रयोग” तो एक तरफ रहा, वहाँ कहीं भी न है तर्कबद्ध अभिगम, न पूर्णरूपेण परीक्षण; न विशद पृथक्करण, न संतुलित प्रस्तुतिकरण । उनमें से किसी ने पूरे स्रोत भी नहीं देखे हैं, न है उनकी दलीलों में वज्रन या वजूद ! अजितकुमार जैन जिन अज्ञात श्वेताम्बर लोगों से लड़ रहे थे और उनकी “युक्तियों” को निःसार ठहरा रहे थे, वे न तो युक्तियाँ थी न ही वे बातें प्रमाणपूत थी । इन विद्वानों में से किसी ने प्रचलित ४ अतिरिक्त पद्य वाले पाठ की प्राचीनता सिद्ध करने के लिए प्राचीन प्रतियाँ पेश नहीं की हैं, न ही उनमें से लिया गया प्राचीन उद्धरण का प्रमाणरूपेण कोई दाखला दिखाया । अपने-अपने मन से खुलासा करके, अपने को सही मनवा के, और श्वेताम्बर पाठ के ४४ पद्य के अस्तित्व पर तरह-तरह का इल्जाम लगा के उसको केवल गुनहगार ही ठहराते रहे हैं । श्वेताम्बर पाठ में ४४ पद्य क्यों हैं ? इस पर संप्रीति, समादर या सहिष्णुता से विचार भले-न करें—यह बात अपेक्षित नहीं थी, न उनके लिए सम्भवित था—पर गम्भीरता से सोचना तो जरूरी था ही । इसकी उपेक्षा तथ्यान्वेषण का लक्षण तथा गवेषक-वृत्ति की प्रकाशक नहीं है । इस पूरे ही उद्यम में ताटस्थ और सज्जता का अभाव ही दिखलाई देता है । अल्प मेहनत और आसानी से तैयार किया हुआ लेखन हो, ऐसा ही आभास इन सब में उठ आता है । दूसरी ओर देखा जाय तो ज्योतिप्रसादजीने पं० दुर्गाप्रसाद शास्त्री और पुणसिकर (तथा द्वितीय आवृत्ति के) पाण्डुरङ्ग काशीनाथ शर्मा जैसे जैनेतर विद्वान् और डा० हीरालाल कापडिया जैसे श्वेताम्बर

जैन विद्वानों के मंतव्यो को लक्ष में लिया ही नहीं । क्या ये सब महानुभाव 'विद्वान्' नहीं थे ?

“गम्भीरतार०” वाले को छोड़कर और सभी चार विशेष पद्यों वाले गुच्छकों को दिगम्बर मनीषियों ने सही माने में कृत्रिम करार दिया और ऊपर हम देख आये कि कापड़िया निर्देशित एवं साराभाई वाला चौथा गुच्छक भी इतना ही बनावटी है । पर “गम्भीरतार०” से शुरू होने वाले चार पद्यों को बिना परीक्षण-विश्लेषण, केवल अहोभाव से, और वस्तुतः इसका विशेष प्रचार होने से मौलिक माना गया; और यहाँ ऐसे गुण भी उसमें आरोपित किये गए हैं जो उसमें दिखाई भी नहीं देते तथा उनको असलियत का प्रमाणपत्र भी दिया गया । हमारी समझ में यह विशेष प्रचलित गुच्छक भी उतना ही बनावटी है जितना और चार । वह कैसे ? पहली बात तो यह है कि इनमें विशिष्ट प्रकार के छेकानुप्रास (जैसे कि 'घोषण घोषकः') आदि प्रकार के अलंकार की उपस्थिति । इसके लगाव की प्रवृत्ति बहुधा मध्यकालीन ही है । मानतुंग के हर पद में नर्तन दिखाई देता है जबकि यहाँ “मंदार सुन्दर नमेरू सुपारिजात” जैसे एकाध-दो मध्यम कक्षा के मंजुल चरण को छोड़कर बाकी सब साधारण कोटि के हैं । उनमें ओज, कान्ति, और मनोहारिता का प्रायः अभाव ही है । इसके अलावा “सन्तानकादि कुसुमोत्कर वृष्टिरुद्धा,” या “दिव्यादिवः पतति ते वचसां ततिर्वाः” जैसे पदों में तो कोई रसात्मकता दिखाई नहीं देती । और भी देखा जाय तो “लोकत्रय द्युतिमतामाक्षिपन्ती” में तो स्पष्ट ही आयास का भास होता है; तो “खे दुन्दुभिर्न दति ते यशसः प्रवादी” और “सद्धर्मतत्त्वकथनैकपटुस्त्रिलोक्याः” में तो माधुर्य की जगह कटुता का स्वाद मिलता है और “भाषास्वभाव प्रमाण गुण प्रयोज्यः” तो काव्यगुणपूत चरण न होकर किसी दार्शनिक ग्रन्थ का सूत्र हो, ऐसा आभास देता है ! इन सब में छन्द का स्वाभाविक प्रवाह, जो मानतुंग के मौलिक पद्यों में है, कहीं दिखाई नहीं देता । मानतुंग के पद्यों की सहज-सुन्दर गुम्फन प्रकट करने वाली सुरम्य, प्राञ्जल एवं प्रासादिक प्रौढ़ि के सामने इन चार पद्यों की शैली बिल्कुल ही अलाक्षणिक और साधारण सी दिखाई देती है । दुर्गाप्रसाद शास्त्री ने उन पद्यों को यथार्थ ही “मणिमालान्तर्गत कांच के टुकड़े” करार दिया है । इन पद्यों के आगे और पीछे रहे मौलिक पद्यों को देखते हुए यह बात बिल्कुल स्पष्ट हो जाती है । महाभाग ज्योतिप्रसादजी द्वारा इन चार विशेष पद्यों को दी गई अंजलि हमें तो सार्थक नहीं लगती । वे चार पद्य मानतुंग के काव्यों के साथ रखने के काबिल नहीं हैं । उनमें मानतुंगाचार्य की प्रतिभा कहीं भी दिखाई नहीं देती ।

इस विषय को लेकर ज्योतिप्रसाद जी को एक शिकायत यकॉबी आदि पाश्चात्य विद्वानों के प्रति भी रही है । आपने लिखा है : “जैकोबी [sic] प्रभृति यूरोपीय प्राच्यविदों को ४४ श्लोकी श्वेताम्बर पाठ ही तथा तत्सम्बन्धी अनुश्रुतियाँ ही उपलब्ध हुई—उनके सामने ४८ श्लोकी दिगम्बर पाठ तथा तत्सम्बन्धी अनुश्रुतियों का विकल्प ही नहीं था, अतएव उनका भक्तामर विषयक ऊहापोह का आधार श्वेताम्बर मान्यताएँ ही रहीं । जैकोबी [sic] ने दिगम्बर पाठ के उन अतिरिक्त चार पद्यों पर तो कोई विचार किया ही नहीं—वे उनके सामने थे ही नहीं—श्वेताम्बर पाठ के भी श्लोक ३९ और ४३ (दिगम्बर पाठ ४३ और ४७) को भी प्रक्षिप्त अनुमान किया । विद्वान् के मतानुसार वे मानतुंग द्वारा रचित नहीं हो सकते और मूल रचना में पीछे से जोड़ दिये गये लगते हैं, इस प्रकार मूल भक्तामरस्तोत्र ४२ श्लोकी रह जाता है।”^{२८}

यकॉबी जी के सामने दुर्गाप्रसाद शास्त्री द्वारा संपादित भक्तामरस्तोत्र (ईस्वी १८९६) था, और वहाँ शास्त्री जी द्वारा दिये गये दिगम्बर पाठ के चार अतिरिक्त पद्य और उस पर की गई टिप्पणी भी उन्होंने जरूर देखी होगी। कुछ भी कारण हो, यकॉबी महोदय ने उस पर कोई चर्चा नहीं की और जिन दो पद्यों को वे श्वेताम्बर पाठ में (और इसलिए दिगम्बर पाठ में भी) प्रक्षिप्त मानते थे, उसकी विस्तृत प्रमाणयुक्त समीक्षा कापड़िया जी ने उसी ग्रन्थ में अपनी विस्तृत प्रस्तावना में की थी, और उसको भ्रान्त ठहराया था, जिसका उल्लेख ज्योतिप्रसाद जी ने नहीं किया है। (वस्तुतया ज्योतिप्रसाद जी ने किसी भी कारणवश, पुस्तक सामने रहते हुए भी, कहीं भी प्रा० कापड़िया के मंतव्यों का उल्लेख नहीं किया है। ठीक इसी तरह महामहोपाध्याय दुर्गाप्रसाद शास्त्री के अवलोकनों की भी उपेक्षा की है।) दिगम्बर अनुश्रुतियाँ विशेषकर १७ वीं शताब्दी में हुए ब्रह्मचारी रायमल्ल एवं विश्वनाथ भट्टारक की रचनाओं में गुँथी हुई हैं। इनमें ऐसे कौन से मूल्यवान ऐतिहासिक तथ्य थे जो न देखने से यकॉबी महोदय फ़ायदा से फारिग हो जाते? जिस युग में यकॉबी महाशय ने इस सम्बन्ध में लिखा उस युग में दिगम्बर स्रोतों में से अधिकतर अप्रकाशित थे। और यदि उन्होंने प्रातिहार्यों के अतिरिक्त चार पद्यों के जो विविध गुच्छक मिलते हैं वह सब देखा होता तो वे क्या कहते, इसकी कल्पना करना मुश्किल नहीं है!

इस “४४ या ४८ पद्य” वाली बहस का केन्द्र रहा है अष्ट-प्रातिहार्य। केवल चार ही महाप्रातिहार्य होना अयुक्त है और पूरे आठ होने ही चाहिए ऐसा आग्रह रखने से पहले इस पहलू पर गहराई से गवेषणा करना अपेक्षित था। लेकिन निर्ग्रन्थों के दोनों सम्प्रदाय एवं निर्ग्रन्थेतर विद्वानों ने भी, इस ओर ध्यान ही नहीं दिया। आषाढी अमावस्या की बादल-छाई, काजल-गहरी, पवनरहित रात में, ईमान के आसरे ही मध्य समंदर में चले जाते जहाज जैसी हालत इन सब विद्वानों के विधानों की मालूम होती है। इस विचित्र स्थिति को देखकर इस विषय पर विस्तार से यहाँ जांच करना अपने आप आवश्यक बन जाता है।

निर्ग्रन्थ प्रतिमा-विधान के बेजोड़ अभ्यासी, महामनीषी (स्व०) डा० उमाकान्त प्रेमानन्द शाह ने आगमिक, साहित्यिक, और पुरानी जिन प्रतिमाओं में तक्षित प्रातिहार्यों के आविर्भाव के पहलुओं पर जो विचार किया है^{११}, उसका हम यहाँ आगे आने वाली चर्चा में यथास्थान उल्लेख करते रहेंगे। चर्चा का आरंभ श्रुत साहित्य में अष्ट-प्रातिहार्यों में रही स्थिति से करेंगे।

स्थानांगसूत्र (वर्तमान संकलन प्रायः ईस्वी ३५० या ३६३) में तो आठवें स्थान पर अष्ट-महाप्रातिहार्यों का कोई उल्लेख नहीं है। स्थानांग के समकालिक समवायांगसूत्र में ३४ वें स्थान पर तीर्थकरों के महिमा सूचक ३४ अतिशेष या अतिशय तो गिनाये गये हैं, पर वहाँ भी अन्यत्र ८ वें स्थान पर अष्ट-प्रातिहार्यों का जिक्र नहीं। उन ३४ में से जिनको बाद में ‘देवकृत’ में गिना गया है ऐसे सात ‘अतिशय’ द्रव्यमय हैं, जैसे कि आकाशवर्ती चक्र, छत्र, श्वेत चामर, आगे चलने वाले सहस्र-पताका मंडित इन्द्रध्वज, और जहाँ-जहाँ तीर्थकर ठहरते या विराजमान होते थे वहाँ पादपीठयुक्त सिंहासन का प्राकट्य, तथा यक्षों द्वारा सर्जित पुष्प-पत्र समाकुल अशोकवृक्ष, एवं अंधकारों में दसों दिशाओं को

प्रकाशित करने वाला तेजोमण्डल : यथा-

आगासगतं चक्रं ६

आगासगतं छत्रं ७

आगासिताओ सेतवर चामराओ ८

आगासफालियामयं सपादपीठं सीहासनं ९

आगासगतो कुडभीसहस्स परिंडिताभिरामो इंदजझओ पुरतो गच्छति १०

जत्थ जत्थ वि च नं अरहंता भगवंतो चिद्धंति वा निसीयंति वा तत्थ तत्थ वि च नं
तक्खणा देव सछन्नपत्तपुप्फपल्लव समाकुलो सच्छतो सज्झअरो सघंठो सपडागा
असोगवरपातवो अभिसंजायति ११

इसि पिद्धओ मउडड्डाणम्मि तेजमंडलं अभिसंजायति अंधकारे वि च नं दस दिसातो
पभासेति १२^{३०}

इन सात अतिशयों में से 'चक्र' और 'इन्द्रध्वज' छोड़ कर शेष पाँच को बाद में अष्ट महाप्रातिहार्यों में समाविष्ट किया गया है। औपपातिक सूत्र (प्रायः ईस्वी ३००) में गुणशील-चैत्य में समोवसरित भगवान महावीर के दर्शनार्थ श्रेणिकपुत्र मेघकुमार के प्रस्थान का वर्णन है। वहाँ भी महावीर के सम्बन्ध में दिये गये लम्बे वर्णक में आकाशगत चक्र, छत्र, चामर, सिंहासन और आगे चलने वाले धर्मध्वज का उल्लेख है।^{३१} यहाँ धर्मध्वज छोड़कर शेष तीन अतिशय की गणना बाद में महाप्रातिहार्यों में हुई है और वे सभी वही हैं जो समवायांग में भी अतिशयों के अन्तर्गत दिये गये हैं। (यहाँ अलबत्ता भामंडल उल्लिखित नहीं है)। इसी तरह आवश्यक-निर्युक्ति (प्रायः ५२५) में भी चार विभूतियों का उल्लेख है—व्यंतर देवों द्वारा सर्जित अशोकवृक्ष, सपादपीठ सिंहासन, छत्र और चामरें, यथा -

चेइदुम पेद्धछंदय-आसण छत्तं च चामराओ य ।

जं चंडणं करणिज्जं करंति तं वाणमंतरिया ॥^{३२}

गाथा के प्रथम चरण के अन्तस्थ 'च' शब्द से 'धर्मचक्र' विवक्षित है ऐसा याकिनीसूनु हरिभद्रसूरि ने अपनी आवश्यक-लघुवृत्ति (प्रायः ईस्वी ७५०) में व्याख्या करते समय बताया है^{३३}।

हरिभद्रसूरि के पूर्व आवश्यकचूर्णि (प्रायः ईस्वी ६०० से ६५०) में भी महावीर के समवसरण के उपलक्ष में वही चार अतिशय और पाँचवीं विभूति के रूप में धर्मचक्र गिनाया गया है :

“इह पुण इमं नाणत्तं जाव सामी न पावति ताव रत्तिं चेव देवेहिं तिन्नि पागारा कता अंतो मज्झे बाहिंति, अभ्यंतरं वेमानिया सव्व रतनामयं नानामणिपंचवन्नेहिं कविसीसएहिं मज्झिमं जोतिसिया सोवन्नं रतनकविसीसगं बाहिरं भवनवासी ता च्यतं हेमजंबूनद कविसीसगं अवसेसं जं वातवि उव्वने वरिसनं पुप्फोवगारो च धूवदानं च तं वंतरा करंति असोगवरपातवं जिन उच्चताओ बारसगुणं सक्को विउव्वति ईसानो उवारिं छत्तात्तिछत्तं चामरधरा च, बलिचमरा असोगहेद्धओ पेढं देवछंदगे सीहासनं सपादपीठं फालियापयं धम्मचक्कं च पउम पतिट्ठियं ।”

“अब्भितरस्स मणिमया कविसीसया, मज्झिमस्स रतनमया, बाहिरिल्लस्स हेममया हेव सुवन्नं ।
सव्वरतनमया दारा । तेषिं पागारानं तिएहति सव्व रतनमयी चेव तोरणा, पडागाहिं सए हि य विभूतिया ।
अब्भितरपागारस च बहुमज्जे चेतियरूक्खो तस्स हेट्ठा रतनमयं पेढं तस्स पेढस्स उवरिं चेतियरूक्खस्स
हेट्ठा देवच्छंदओ भवति, तस्सब्भंतरे सीहासनं भवति, तस्सोवरिं छत्तातिच्छत्तं उभयो पासे य दो जक्खा
चामर हत्था य सद्धा पुरतो धम्मचक्कं य पउमपतिट्ठितं ॥३३॥”^{३५}

और आवश्यकचूर्णि से कुछ वर्ष पूर्व जिनभद्राणि क्षमाश्रमण ने भी विशेषावश्यकभाष्य
(प्रायः ईस्वी ५८५) में महावीर के पावा में हुए समवसरण की वर्णना में प्राकारादि के उद्भव और लोगों
को एकत्र करने वाले दिव्यघोष के ध्वनित हो जाने के पश्चात् वहाँ सिंहासन, रक्ताशोक, (शक्र ग्रहित)
छत्र और दो इन्द्र (ईशानेन्द्र, चमरेन्द्र) ग्रहित श्वेत चामरों का ही खास रूप से उल्लेख किया है, यथा-

सीहासणे णिसण्णो रत्तासोगस्स हेट्ठतो भगवं ।
सक्को सहेमजालं सयमेव य गेण्हते छत्तं
दो होन्ति चामराओ सेताओ मणिमएहिं दण्डेहिं
ईसाणचमरसहिता धरेन्ति ते णातवच्छस्स ॥^{३६}

- विशेषावश्यकभाष्य १९८५-८६

इन सबोंको देखते हुए तो लगता है कि उत्तर की निर्ग्रन्थ आगमिक परम्परामें तीर्थंकर के
समीपवर्ती दृश्यमान विभूतियों पर जोर दिया गया है, और उनके प्रत्यक्ष पदार्थमान अतिशयों में से मोटे
तौर पर पाँच या चार का उल्लेख होता रहा है । कहीं भी उनको प्रातिहार्य नहीं कहा गया है और
समवायांग के आधार पर उसको श्वेताम्बर परम्परा में तो बुद्धातिशेष=अतिशयों में ही माना जाता था,
ऐसा कहा जा सकता है । इस प्रथा का अनुसरण बादमें निवृत्ति कुल के शीलाचार्य कृत चउपन्न-
महापुरिस-चरिय (ईस्वी० ८६९) में भी हुआ है । वहाँ महावीर के उपलक्ष में दी गई आर्या में
समवसरण के कंकेल्लि (अशोक), छत्राधिछत्र और सिंहासन की बात करने के बाद भामंडल और यक्ष
द्वारा ग्रहण किये हुए चामर का उल्लेख है ।^{३६}

अब सवाल यह है कि अष्ट-महाप्रातिहार्यों का उल्लेख कब से हुआ, कहाँ हुआ और किसने
किया ? उपलब्ध प्रमाणों से, उत्तर की निर्ग्रन्थ परम्परा में तो वह सबसे पहले (कोटिक गण की वज्री
शाखा के) नागेन्द्र कुल के मुनि विमलसूरि की सुप्रसिद्ध कथात्मक रचना पउमचरिय (संभवतः ईस्वी
४७३) में उल्लिखित है । वहाँ महावीर के समवसरण के उपलक्ष में कहा गया है कि उस में अष्ट-
महाप्रातिहार्ययुक्त दो वक्षस्कार थे ।

अ ह दोण्णि य वक्खारा अट्टमहापाडिहेर संजुता ।

- पउमचरिय २.२५१

वहाँ प्रातिहार्यों के नाम नहीं गिनाये परन्तु ऋषभदेव के केवलज्ञान उत्पत्ति के प्रसंग में आसन,
छत्राधिछत्र, चामर, भामण्डल, कल्पद्रुम, देवदुन्दुभिघोष और पुष्पवृष्टि का उल्लेख किया है^{३७} ।”

उपन्नम्मि या नाणे उपज्जइ आसणं जिणिंदस्स ।
 छत्ताइछत्त चामर तहेव भामण्डलं विमलं ।
 कप्पदुमो य दिव्वो दुन्दहिघोसं च पुप्फवरिसं च ।
 सव्वाइसायसम्मगो जिणवरइट्ठिं समणुपत्तो ॥

- पउमचरिय ४.१८- १९

वहाँ शेष रह जाने वाला अतिशय 'दिव्यध्वनि' इसलिए उल्लिखित नहीं है क्योंकि देशना का यह अवसर नहीं था । अन्यथा यहाँ महाप्रातिहार्य ही परिलक्षित है । परन्तु महावीर के समवसरण के प्रसंग में सिंहासन, छत्राधिछत्र, चामर, अशोक (वृक्ष) और भामण्डल इन पाँच ही विभूतियों का उल्लेख है, जो इसको निर्युक्तिवाली परिपाटी के समीप ले जाता है ।^{३८}

भयवं मि तिहुयणगुरू विचित्त सीहासणे सुहनविट्ठो ।
 छत्ताइछत्त चामर असोग भामण्डलसणाहो ॥

- पउमचरिय २.५३

पउमचरिय के पश्चात् संघदासगणि क्षमाश्रमण की प्रसिद्ध कथा वसुदेवचरित (प्रायः ईस्वी ५५०) में जिन शान्तिनाथ के समवसरण के अनुलक्ष में उपस्थित छह दिव्य विभूतियों में भामण्डल और दिव्यध्वनि नहीं है, पर धर्मचक्र है । चार तो वही हैं जो आवश्यकनिर्युक्ति, विशेषावश्यकभाष्य, और आवश्यकचूर्णि में हैं । विशेष में यहाँ देवदुन्दुभि है, यथा -

‘ततो देवा भवण-विमाणाधिपयओ गंधादेय-कुसुमवरिसं च वासमाणा उपागया वंदिऊण भयवंतं परमसुमणसा संट्टिया । वयणरेहिं य समंततो देवलोयभूयं कयं जोयणप्पमाणं । ततो हरिसवस-वियसियनयणेहिं वेमाणिय-जोईसिय-भवणवईहिं रयण-कणय-रययमया पायरा खणेण निम्मिया माणि-कणय-रयणकवि- सीसगोवसोहिया । तेसिं च पत्तेयं पत्तेयं चत्तारि दुवाराणि रययगिरि सिहरसरिसाइं । जत्थ य अरहा वियसियमुहो जगगुरू संठिओ । नंदिवच्छपायवो सो वि दिव्वपहावेण जयचक्खु रमणेण कप्परूक्खसारिक्खरूविणा रत्तासोगेण समोच्छण्णो । तण्णिसियं च सीहासणमागासफलहमयं सवायपीठं देवाण विम्हयजणणं । उवरिं गगणदेशमंडणं सयलचेद पडिबिंब भूयं छत्ताइछत्तं । भवियजण बोहणहरें च भुवयं पुरच्छाभिमुहो सण्णिसण्णो । ठिपाय जक्खा चामरूक्खेवडक्खित्ता । पुरओ य तित्थयरपायमूले कणयमयसहस्सपत्तपइट्ठियं तरूणरविमंडल निभं धम्मचक्कं ।’^{३९}

संघदास उनको प्रातिहार्य नहीं कहते हैं परंतु सूत्रकृतांगचूर्णि (प्रायः ईस्वी ६७५-७००) में, एवं हरिभद्र की नन्दिवृत्ति (प्रायः ईस्वी ७४५) में स्पष्ट रूप से अष्ट-प्रातिहार्यों से सम्बद्ध एक संस्कृत पद्य उद्धृत किया हुआ मिलता है । ठीक यही पद्य हरिभद्र ने फिर अनेकान्तजयपताका की स्वोपज्ञवृत्ति (प्रायः ईस्वी ७६०-७७०) में भी उद्धृत किया है और बाद की श्वेताम्बर टीकाओं में प्रसंगोपात्त वही पद्य उद्धृत होता रहा है । पद्य इस प्रकार है-^{४०}

अशोकवृक्षः सुरपुष्पवृष्टिदिव्योध्वनिश्चामरमासनं च ।
भामण्डलं दुन्दुभिरातपत्रं सत्प्रातिहार्याणि जिनेश्वराणाम् ॥

इस पद्य की शैली व स्वरूप को देखते हुए ऐसा प्रतीत नहीं होता कि यह ईस्वी सातवीं शताब्दी पूर्वार्ध से पूर्व की रचना है ।

दाक्षिणात्य परम्परा में अष्ट-महाप्रातिहार्यों का उल्लेख सबसे पहले तिलोयपण्णत्ती (प्रायः ईस्वी छठी शताब्दी मध्यभाग) के अन्तर्गत मिलता है । वहाँ अशोकवृक्ष, छत्रत्रय, सिंहासन, गण, दुंदुभि, पुष्पवृष्टि और भामण्डल गिनाये गये हैं, चामर प्रातिहार्य का उल्लेख प्रकाशित आवृत्ति में छूट गया है।^{१४} 'दिव्यध्वनि' के स्थान पर 'गणों' का (प्रमथों का) उल्लेख है, जो अन्यथा वसुदेवचरित में भी समवसरण के उपलक्ष में दिया गया है । तत्पश्चात् महामेधाविन् दार्शनिक स्तुतिकार स्वामी समन्तभद्र की स्तुतिविद्या (प्रायः ईस्वी ६००) के अन्तर्गत अष्ट-प्रातिहार्यों से सम्बद्ध पद्य मिलता है।^{१५} यथा :

नतपीला सनाशोक सुमनोवर्ष भासितः ।

भामण्डलासनाऽशोक सुमनोवर्ष भासितः ॥५॥

दिव्यैर्ध्वनिसितच्छत्रचामरैर्दुन्दुभिस्वनैः ।

दिव्यैर्विनिर्मितस्तोत्रश्रमदुर्दुरिभिर्जनैः ॥६॥

- स्तुतिविद्या ५-६

अतः यहाँ भामण्डल, आसन, अशोक (वृक्ष), सुमनवर्षा, श्वेतच्छत्र, दिव्यध्वनि, चामर और दुन्दुभि मिलाकर बाद की कल्पना के सभी अष्ट-प्रातिहार्यों का उल्लेख है ।

समन्तभद्र की कृतियों के पश्चात् क्रम में आती हैं पूज्यपाद देवनन्दी (कर्मकाल प्रायः ईस्वी ६३५-६८०) की रचनाएँ । दशभक्ति के नाम से प्रचलित संस्कृत पद्यमय रचनाएँ प्रभाचन्द्र ने अपनी क्रियाकलापटीका (ईस्वी १०२५-१०५०) के अन्तर्गत "पादपूज्य" अर्थात् 'पूज्यपाद' की बताई हैं। परन्तु 'पूज्यपाद' विशेषण भूतकाल में देवनन्दी के अतिरिक्त भद्र अकलंकदेव, और कुछ अन्य आचार्यों के लिए भी प्रयुक्त होने के कारण एवं देवनन्दी से सम्बद्ध उपलब्ध अभिलेखों तथा साहित्य सन्दर्भों में उनकी सुप्रसिद्ध कृतियों — जैनेन्द्रलक्षणशास्त्र और सर्वार्थसिद्धिटीका के उपरान्त समाधितन्त्र तथा इष्टोपदेश के अतिरिक्त कहीं भी दशभक्ति का उल्लेख न होने से इनकी कर्तृत्व-स्थिति प्रायः अनिश्चित है, ऐसा पं० नाथूराम प्रेमी का मंतव्य रहा था।^{१६} दशभक्ति की शैली के परीक्षण से हम इस नतीजे पर पहुँचे हैं कि देवनन्दी की अन्य रचनाओं से इनमें से कुछ, संगुम्फन और प्रसाद की दृष्टि से निराली एवं बेहतर हैं और इनमें से एकाध में स्पष्टतः देवनन्दी की निजी रीति के लक्षण, शब्दों का चुनाव, लगाव तथा उनका विशिष्ट एवं अपूर्व लाघव भी स्पष्ट रूप से देखने में आता है । हो सकता है, प्रभाचन्द्र के पास इन सब को पूज्यपाद की कृतियाँ मानने के लिए पारंपरिक आधार रहा हो । यद्यपि उन्होंने यह नहीं बताया कि 'पादपूज्य' कौन थे, फिर भी मोटे तौर पर वहाँ देवनन्दी ही विवक्षित हैं, ऐसा मान सकते हैं ।

दशभक्ति के पद्यों में से 'निर्वाण भक्ति' के प्रारंभिक २० पद्य तो जिन वीर के पञ्चकल्याणक से सम्बद्ध है और जैसा कि प्रेमीजी ने कहा है, यह कोई पृथक् रचना होनी चाहिए^{४५} । और वहाँ बाद में आने वाले पद्य २१ से लेकर ३२ तक का हिस्सा ही वास्तवमें निर्वाणभूमि से सम्बद्ध है, जिसके शैली एवं छन्द पूर्वकथित वीरपञ्चकल्याणकस्तोत्र से दिखाई देती शैली-भिन्नता के आधार पर एवं विशिष्ट लाघव की उपस्थिति के कारण इसको देवन्दी की रचना मान सकते हैं । अन्य कर्तृक पूर्वोक्त 'महावीर-स्तोत्र' में १४वें पद्य में कैवल्यप्राप्ति के बाद वैभार पर्वत पर जिन की प्रथम धर्मोपदेशना के उपलक्ष्य में अष्ट-प्रातिहार्यों का प्रादुर्भाव हुआ उल्लिखित है ।^{४६}

यथा—

छत्राशोकौ घोषं सिंहासनदुंदुभी कुसुमवृष्टिं ।
वर चामरभामंडल दिव्यान्यन्यानि यावायत् ॥

शैली के आधार पर यह स्तोत्र सप्तम शतक से अर्वाचीन हो ऐसा नहीं लगता ।

निर्वाणभक्ति के अतिरिक्त नन्दीश्वरभक्ति के अंदर अष्ट-महाप्रातिहार्यों का उल्लेख है । यह भक्ति भी दो पृथक् (किन्तु शायद एक ही कर्ता की) रचनाओं का मिलाजुला (या जुड़ा गया) स्वरूप प्रकट करती है । इसमें एक से लेकर ३७ वें तक के पद्य में देवकल्पों से प्रारम्भ करके सकल लोक में रहे अकृत्रिम (शाश्वत) जिनचैत्यों का ब्योरा दिया गया है, जिसमें नन्दीश्वरद्वीप भी आ जाता है और पद्य ३८ से लेकर अन्तिम पद्य ६० के अन्तर्गत पहले तो तीर्थकरों के ३४ अतिशय और उसके पश्चात् अष्ट-महाप्रातिहार्यों का विवरण है । दोनों रचनाओं की शैली एक सी है; इतना ही नहीं, वह वीर पञ्चकल्याणकस्तोत्र की शैली से भी मिलती-जुलती है । सम्भव है, इन तीनों के कर्ता एक ही हों ।

अतिशयों और प्रातिहार्यों का वर्णन करने वाली यह दूसरी रचना भी अत्यन्त श्रवण-मधुर एवं सुललित है; और यह कृति भी प्राकृमध्यकाल के बाद की हो, ऐसा महसूस नहीं होता । रचयिता निश्चय ही आला दर्जा के कवि रहे थे । यहाँ ३४ अतिशयों की वर्णना बहुत ही सरस एवं सुमंजुल पदावली में गुम्फित की गई है । इसके सभी पद्य यहाँ पेश करने का लालच रोककर केवल इनमें से आखिर वाले तीन पद्य देकर बाद के अष्ट-महाप्रातिहार्यों से सम्बद्ध पद्य पूरे ही पूरे प्रस्तुत करेंगे ।^{४६}

वरपद्मरागकेसरमतुलसुखस्पर्शहेममयदलनिचयम् ।

पादन्यासे पद्यं सप्त पुरः पृष्ठतश्च सप्त भवन्ति ॥

एतेनेति त्वरितं ज्योतिर्व्यंतरदिवोकसामृतभुजः ।

कुलिशभृदाज्ञापनया कुर्वत्यन्ये समन्ततो व्याव्हानम् ॥

स्फुरदसहस्ररुचिरं विमलमहारत्नकिरणनिकरपरीतम् ।

प्रहसितकिरणसहस्रद्युतिमंडलमग्रगामि धर्मसुचक्रम् ॥

वैदूर्यसूचिर विटप प्रवालमृदुपल्लवोपशोभितशाखः ।

श्रीमानशोकवृक्षो वरमरकतपत्रगहन बहलच्छायः ॥

मंदारकुंदकुवलयनीलोत्पल कमलमालती बकुलाद्यैः ।
 समदभ्रमरपरीतैर्व्यामिश्रा पतति कुसुमवृष्टिर्नभसः ॥
 कटककटिसूत्रकुंडलकेयूरप्रभृतिभूषितांगौ स्वंगौ ।
 यक्षौ कमलदलाक्षौ परिनिक्षिपतः सलीलचामरयुगलम् ॥
 आकस्मिकमिव युगपद्विवसकरसहस्रमपगतव्यवधानम् ।
 भामंडलमविभावितरात्रिं दिवभेदमतितरामाभाति ॥
 प्रबलपवनाभिघातप्रक्षुभितसमुद्रघोषमन्द्रध्वानम् ।
 दध्वन्यते सुवीणावंशादिसुवाद्यदुंदुभिस्तालसमम् ॥
 त्रिभुवनपतितालांछनमिंदुत्रयतुल्यमतुलमुक्ताजालम् ।
 छत्रत्रयं च सुबृहद्वैडूर्यविकल्पत दंडमधिकमनोज्ञम् ॥
 ध्वनिरपि योजनमेकं प्रजायते श्रोत्रहृदयहारिगभीरः ।
 ससलिलजलधरपटलध्वनितमिव प्रविततान्तराशावलयम् ॥
 स्फुरितांशुरत्नदीधितिपरिविच्छरितामरेन्द्रचापच्छायम् ।
 ध्रियते मृगेन्द्रवर्यैः स्फटिकशिलाघटित सिंहविष्टरमतुलम् ॥
 यस्येह चतुस्त्रिंशत्प्रवरगुणा प्रातिहार्यलक्ष्म्यश्चाष्टौ ।
 तस्मै नमो भगवते त्रिभुवनपरमेश्वरार्हते गुणमहते ॥

प्रातिहार्यों से सम्बद्ध पद्य इतने ही चमकीले हैं, जितने अतिशयों वाले । प्रातिहार्यों की वर्णना देखने से इनमें से कुछ में हमें अन्य दिगम्बर-मान्य विभावन से अनोखी एवं कुछ पहलुओं में तो उत्तर की परम्परा के समीप सी दिखाई देती है । जैसा कि अतिशयों में अग्रगामी धर्मचक्र का समावेश और प्रातिहार्यों में अशोकवृक्ष का रक्ताशोक रूपेण विवरण तथा यक्षों द्वारा गृहीत चामर-युगल इत्यादि से लगता है कि कर्त्ता शायद यापनीय रहे हों या यापनीय माध्यम से उत्तर की आगमिक परम्परा से परिचित रहे होंगे, जो कि अन्यथा उन्होंने ३४ अतिशयों में दिगम्बर रचनाओं के माफ़िक ही महाप्रातिहार्यों को समाविष्ट नहीं किया है ।

जिसकी रचनाकाल के सम्बन्ध में स्पष्ट सूचना हो, ऐसी प्राकृमध्यकालीन रचनाओंमें श्वेताम्बर सम्प्रदाय की उद्योतनसूरि विरचित कुवलयमालाकहा (ईस्वी ७७८) सबसे प्राचीन है । वहाँ प्रातिहार्य इस प्रकार उल्लिखित है । (यह वर्णन भगवान महावीर के समवसरण के अनुलक्ष में किया गया है)^{४९}
 यथा-

एयस्स मज्झारे रइयं देवेण मणिमयं तुंगं ।
 कंचण-सेलं व थिरं वरासणं भुवणनाहस्स ॥
 ततो पसरिय किरणं दित्तं भामंडलं मुणिवइस्स ।
 वर दुंदुही य दीसइ वर सुर कर ताडिया सहसा ॥
 कोमल किसलय हारं पवणुव्वेल्लंत गोच्छ चचइयं ।

बारस गुण तुंगयरं असोग वर पायवं रम्पं ॥
 ततो वि फलिह मइयं तिहुयण-सामित्तणेक्क वर चिंधं ।
 चंदावलि व्व रइयं छत्ततियं धम्मणाहस्स ॥
 पासेहिं चामराओ सक्कीसाणेहिं दो वि धरियाओ ।
 उक्कुट्टि सीह-णाओ णिवडंति य दिव्व-कुसुमाइं ॥

- कुवलयमालाकहा १७९

(यद्यपि यहाँ दिव्यध्वनि अनुल्लिखित रह जाता है फिर भी कर्ता को वहाँ अष्ट महाप्रातिहार्य ही अभिप्रेत थे ऐसा कहा जा सकता है ।)

इस के तुरंत बाद के पुत्राटसंघीय जिनसेन के हरिवंशपुराण (ईस्वी ७८४) में, पञ्चस्तूपान्वय के स्वामी वीरसेनशिष्य जिनसेन के आदिपुराण (ईस्वी ८३६-८५० के बीच) में तथा बाद के दिगम्बर मध्यकालीन साहित्य में प्रातिहार्यों के उल्लेख मिलते रहते हैं, जैसा कि श्वेताम्बर साहित्य में भी । (देखिए तालिका क्रमांक ६)

अब पुरानी जिन प्रतिमाओं के विषय में क्या स्थिति थी वह देखा जाय तो कुषाणकालीन तथा गुप्तकालीन मथुरा, अहिच्छत्रा (अधिच्छत्रा), एवं विदिशा (ईस्वी ४३६) के दृष्टान्तों में विभूतियों की उपस्थिति और उसकी संख्या किसी नियम को लेकर हो ऐसा महसूस नहीं होता । कहीं तीन, तो कहीं चार, तो कहीं पाँच । कहीं चैत्यवृक्ष दिखाया है तो अधिकतर में भामण्डल से ही काम चलाया है । सिंहासन बहुधा मिलता ही है, पर चामरधारी मिलते भी हैं और नहीं भी । उनके स्थान पर आराधकों की आकृतियाँ भी मिल जाती हैं । छत्र सम्बद्ध देखा जाय तो वह गुप्तयुग के प्रारम्भ तक प्रतिमा के भामण्डल के ऊपर के हिस्से से संलग्न न होकर प्रतिमा के पिछले हिस्से में जुड़ी स्तम्भिका पर जोड़कर अद्धर (above) रख दिया जाता था । (और वह भी छत्रत्रय न होकर समकालिक बुद्ध प्रतिमा में होता था, इस तरह एक ही छत्र रहा होगा ।) प्रतिमाओं से संलग्न प्रातिहार्यों की संख्या में वृद्धि प्रायः सातवीं शताब्दी से दिखाई देती है, जब से छत्र भी कभी-कभी छत्रत्रय के रूप में नजर आना प्रारंभ होता है । देवदुन्दुभि भी मिल ही जाय ऐसा नियम नहीं, और पुष्पवृष्टि तो आकाशचारी मालाधर-विद्याधरों के द्वारा सूचित होती थी । (दिव्यध्वनि को तो शिल्प में चित्रित करना या आभासित करना मुश्किल है ।)

श्वेताम्बर साहित्य में प्रातिहार्य से सम्बद्ध स्पष्ट रूप से दो भिन्न अभिगम दिखाई देते हैं । आगम एवं आगमिक साहित्य में अष्ट-प्रातिहार्यों का कोई एक समवाय, विशिष्ट समूह रूपेण अलग विभाव, था ही नहीं । वहाँ तीर्थंकरों के ३४ अतिशयों के अंतर्गत प्रातिहार्यों में से चार या कभी-कभी पाँच या छह का ही समावेश रहा । (देखिए तालिका क्रमांक ५ ।) सब से पहले कथात्मक साहित्य में अष्ट प्रातिहार्य की कल्पना प्रकट रूप से दिखाई देती है, और वहाँ स्पष्ट हो जाने के बाद वह अनुगुप्त एवं प्राक्-मध्यकाल से, श्वेताम्बर आगमिक व्याख्या-साहित्य में उसको स्वीकार करके, समाविष्ट किया गया । दूसरी ओर दिगम्बर साहित्य में अष्ट-महाप्रातिहार्य मानी जाती विभूतियाँ, उनके मान्य ३४ अतिशयों में शामिल नहीं है । त्रिलोकप्रज्ञप्ति (प्रायः ईस्वी ५५०) में दिये गये ३४ अतिशयों में सिर पर चक्र धारण किये

हुए, समवसरण की चतुर्दिशा अनुलक्षित चार यक्षेत्रों और पादपीठ की बात है, पर अशोकवृक्ष, सिंहासन, चामर, भामण्डल और छत्रादि वहाँ नहीं है। श्वेताम्बर-मान्य अतिशयों में आकाशवर्ती एक ही धर्मचक्र बताया है और वहाँ का शक्रध्वज दिगम्बरों की गिनती में है ही नहीं। वहाँ अष्ट-महाप्रातिहार्यों को अलग समूह में गिनाया गया है और उसमें धर्मचक्र को छोड़कर अशोकवृक्षादि का समावेश किया गया है। त्रिलोकप्रज्ञप्ति ही ऐसा प्रथम ग्रन्थ है जिसमें अतिशयों को तीन वर्ग—जन्मजात, केवलजनित और देवकृत—में विभाजित किया गया है। यूँ तो अष्ट प्रातिहार्य देवकृत अतिशयों के अंदर आना चाहिए था, पर वहाँ इस तरह नहीं है। वस्तु, आयोजन एवं लेखन-शैली की दृष्टि से त्रिलोकप्रज्ञप्ति आगमों के बाद हुए विकास का द्योतक शास्त्र है। त्रिलोकप्रज्ञप्ति के अतिशयों में बाद में निर्ग्रन्थ-दर्शन में संप्रविष्ट दिव्य समवसरण की कल्पना में तीर्थकरों के चतुर्दिशा से सम्बद्ध देवकृत चतुर्मुख रूपाभास का उल्लेख है, पर तीन प्राकारों का नहीं, जो श्वेताम्बरों में सर्वप्रथम वसुदेवचरित (प्रायः ई० ५५०) और बाद के साहित्य में है।

डा० उमाकान्त शाह उपलब्ध साहित्यिक और प्रतिमाविषयक प्रमाणों के आलोडन के बाद इस निर्णय पर पहुँचे हैं कि अष्ट-महाप्रातिहार्यों की पूर्णरूप से कल्पना गुप्तकाल के अन्त में शुरू हो कर विशेष करके अनुगुप्त काल में दृढीभूत हुई थी और अतिशयों में से पृथक् करके ही प्रातिहार्यों को बताया गया था^{५६}। ऊपर चर्चित सभी पुराने प्रमाणों को देखते हुए विभूतियों की कल्पना में न है सनातनता, न अतीव पुरातनत्व या क्रमबद्धता, न ही संख्या और प्रकार के विषय में सदैव एकवाक्यता है। उत्तरापथ की आगमिक परम्परा में तो अष्ट-प्रातिहार्य रूपी समवाय की कल्पना न होकर उसमें मुख्य-मुख्य जो दृश्यमान एवं द्रव्यमय रहा, उसका अंतर्भाव ३४ अतिशयों में ही था। यह सब देखते हुए ऐसा लगता है कि भक्तामरकार अष्ट-प्रातिहार्यों को लेकर नहीं पर ३४ में से चार देवकृत प्रत्यक्ष अतिशयों को ग्रहण करके, आवश्यकनिर्युक्ति आदि की परम्परा के अनुसार चले हैं। इतना ही नहीं, भक्तामरकार की उन चार विभूतियों के लक्षण भी श्वेताम्बर वर्णना से मिलते-जुलते हैं, जिस पर आगे विवेचन किया जायेगा।

इस परिप्रेक्ष्य में देखा जाय तो भक्तामरस्तोत्रकार को अष्ट-महाप्रातिहार्य अपेक्षित थे, ऐसा मानकर चार पद्यों की पूर्ति कर देने वाले उत्तर मध्यकालीन मुनि-कविगण में इतिहास-दृष्टि न होने से, आज जैसा विश्लेषणात्मक-समीक्षात्मक अभिगम एवं पद्धति न अपनाने से, अपनी-अपनी समझ और कवितासामर्थ्य के अनुसार चार अधिक पद्यों को बना देने के उद्देश्य से, उनके द्वारा कम से कम चार (या पाँच) अलग-अलग, एक दूसरे से स्वतंत्र एवं अनभिज्ञ रहकर, जुदे-जुदे देशकाल में प्रयत्न हुए। पर सांप्रतकालीन विद्वान् इस विषय पर विशेष अन्वेषण किए बिना इसके पक्ष में या प्रतिपक्ष में कलम चलाते रहे, इस घटना से भारी अचंभा होता है। यदि भक्तामर में चार-प्रातिहार्यों की कमी मानी जाय तो आवश्यकनिर्युक्ति, विशेषावश्यकभाष्य, आवश्यकचूर्णि तथा वसुदेवचरित एवं चउपन्न-महापुरिसचरिय में भी कमी मानकर वहाँ भी बाकी रहने वाले प्रातिहार्यों को लेकर मूल संगठन के अनुसार एकाध आर्या या गाथा या दंडक में वह बांधकर दाखिल कर देना चाहिए और इसी सिद्धान्त

को लेकर पुरानी सभी जिन प्रतिमायें, जिनमें पूरे आठ प्रातिहार्य नहीं हैं, सिलावट को बिठाकर बाकी रहने वाले प्रातिहार्य तक्षित करवा देना चाहिए । तात्पर्य यह है कि भक्तामरकार को मूल में अष्ट प्रातिहार्य, और उसके समेत ४८ पद्य अभिप्रेत था, ऐसा कोई प्रमाण नहीं, बल्कि सभी प्रमाण इससे विपरीत हैं । इस दशा में “गम्भीरतार०” से शुरू होने वाला चार पद्य — जिसकी बेशक पिछली कुछ सदियों से दिगम्बर सम्प्रदाय में काफ़ी मान्यता रही है — क्षेपक ही होने से मूल स्तोत्र के पाठ में यदि न रखा जाय तो वह बिलकुल ही सुसंगत है । इसकी अनुपस्थिति से न तो स्तोत्र में कोई ‘अपूर्णता’ रह जाती है, न उसमें आ जाती है ‘सदोषता’ या विकृति । बल्कि चार पद्यों को घुसेड़ देने की प्रक्रिया को ही जबरदस्ती और बेतुका प्रयत्न माना जायेगा । उत्तर मध्यकालवालों के ऐसे प्रयत्नों को बहाल रखने से मूलकार के साथ सरासर अन्याय ही होगा ।

इस अध्याय के आखिरी चरण में कुछ दिगम्बर विद्वद्वयों के अभिप्रायों और कुछ श्वेताम्बर मुनियों एवं अन्य विद्वानों के मंतव्यों के अवलोकन के साथ वक्तव्य समाप्त करेंगे । श्रीमान् कटारिया का कथन रहा कि “श्वे० सम्प्रदाय भक्तामर के ३२ से ३५ तक के चार श्लोकों को नहीं मानता है कुल ४४ श्लोक ही मानता है इससे चारप्रातिहार्यों का वर्णन छूट जाता है जब कि श्वे० सम्प्रदाय में भी पूरे ८ प्रातिहार्य माने हैं । कल्याणमन्दिर स्तोत्र में भी ‘भक्तामर’ की तरह पूरे आठ प्रातिहार्यों का वर्णन है और उसे श्वे० सम्प्रदाय भी अविकल रूप से मानता है तब फिर भक्तामरस्तोत्र के उक्त चार श्लोकों को श्वे० सम्प्रदाय क्यों नहीं मानता ? शायद यह कहा जाता है कि कल्याणमन्दिर में ४४ श्लोक हैं अतः, भक्तामर में भी ४४ ही होने चाहिए, अगर यह कहा जाता है तो यह अजीब तुक है । ऐसा तुक मिलानेवालों को चाहिए कि— जिस तरह कल्याणमन्दिर में ८ प्रातिहार्यों का वर्णन है उसी तरह भक्तामर में भी ८ प्रातिहार्यों के वर्णन वाले पूरे श्लोक मानें, व्यर्थ श्लोक संख्या साम्य में पड़कर चार प्रातिहार्यों को न छोड़ें ।

श्वे० स्थानकवासी कविवर मुनि अमरचन्दजी ने पूरे ४८ श्लोक मानकर ही भक्तामर का हिन्दी पद्यानुवाद किया है दूसरे भी श्वे० विद्वानों को इसका अनुकरण करना चाहिए^{६९} ।”

कटारियाजी के पूर्व अजितकुमार जी ने भी कुछ ऐसा ही कहा है; अलबत्ता वह उनकी निजी शैली, बलन-चलन, और पश्यता को वफ़ादार रहकर ही । “..... इतना जरूर है कि भक्तामरस्तोत्र को ४४ श्लोकों वाला मान लेने पर भक्तामरस्तोत्र अधूरा अवश्य रह जाता है, क्योंकि तीर्थकरों के प्रातिहार्य जिस प्रकार दिगम्बर सम्प्रदाय ने माने हैं उसी प्रकार के श्वेताम्बर सम्प्रदाय में भी माने गये हैं । इन आठ प्रातिहार्यों का वर्णन जिस प्रकार कल्याणमन्दिर स्तोत्र में है, जिसको कि श्वेताम्बर सम्प्रदाय भी मानता है, उसी प्रकार भक्तामरस्तोत्र में भी रखा गया है । श्वेताम्बर सम्प्रदायके भक्तामरस्तोत्र में जिन ३२, ३३, ३४, ३५ संख्या वाले चार श्लोकों को नहीं रखा गया है उनमें क्रम से दुन्दुभि, पुष्पवृष्टि, भामण्डल और दिव्यध्वनि इन चार प्रातिहार्यों का वर्णन है । उक्त चार श्लोकों को न मानने पर ये चारों प्रातिहार्य छूट जाते हैं । अतः कहना पड़ेगा कि श्वेताम्बरीय भक्तामरस्तोत्र में सिर्फ चार ही प्रातिहार्य बतलाये हैं, जबकि श्वेताम्बरीय सिद्धान्तानुसार प्रातिहार्य आठ होते हैं, और

उन छोड़े हुए चार प्रातिहार्यों को कल्याणमन्दिर स्तोत्रमें क्रमशः २५, २०, २४, तथा २१ नम्बर के श्लोकों में गुम्फित किया गया है ।

अतः श्वेताम्बर सम्प्रदायके सामने दो समस्याएँ हैं । एक तो यह कि, यदि कल्याणमन्दिर को यह पूर्णतया अपनाता है तो कल्याणमन्दिर की तरह तथा अपने सिद्धान्तानुसार भक्तामरस्तोत्र में भी आठों प्रातिहार्यों का वर्णन मानें तब उसे भक्तामर स्तोत्र के ४८ श्लोक मानने होंगे ।

दूसरी यह कि, यदि भक्तामरस्तोत्र में अपनी मान्यतानुसार चार प्रातिहार्य हों तो कल्याणमन्दिर में भी २०, २९, २४ तथा २५ नंबर के श्लोकों को निकाल कर दोनों स्तोत्रों को समान बना दें ।

इन दोनों समस्याओं में से पहली समस्या ही श्वेताम्बर समाज को अपनानी होगी; क्योंकि वैसे करने पर ही भक्तामरस्तोत्र का पूर्णरूप उनके पास रहेगा । और उस दशा में दिगम्बर-श्वेताम्बर सम्प्रदाय के भक्तामरस्तोत्र में कुछ भी अन्तर नहीं रहेगा ।^{५०}

इन वक्तव्यों में ४४ की जगह ४८ पद्यों को स्वीकार कर लेने की, श्वेताम्बर सम्प्रदाय को कुछ मुर्खीपना के भाव (patronizing attitude) से दी गई सलाह के सुफियानापन के विषय में तो दो मत नहीं हो सकता । इतिहासवेत्ता इसे स्वीकार करें या न करें यह दूसरी बात है । पहली मुश्किल बात तो यह कि “गम्भीरतार०” आदि चार पद्य मूलतः अमौलिक हैं । इनका मानतुंग की शैली से सर्वथा दुर्मेल है । दूसरी बात यह कि मानतुंगाचार्य को वहाँ समवाय रूप से ‘अष्टमहाप्रातिहार्य’ अभिप्रेत था ऐसा सिद्ध नहीं हो सकता । ऊपर हम देख चुके हैं कि कर्ता ने उत्तर की परिपाटी के ३४ अतिशयों में से चुनकर चार ‘अतिशयों’ का ही वर्णन किया है, जिस परिपाटी का अनुसरण आवश्यकनिर्युक्ति आदि की परम्परा के अंतर्गत सिद्ध है । यदि मानतुंगाचार्य को स्तोत्र-करण में अष्टमहाप्रातिहार्य अभिप्रेत होते तो वह खुद ही आठों के वर्णन करने में हिचकिचाते नहीं । जो वस्तु मूलकर्ता की वैधानिक योजना में न रही हो, कल्पना अंतर्गत न हो, आदर्श में सन्निहित न हो, उसको उन पर आरोपित करके, जबरन थोप देने से, और ऐसा करने के लिए उनकी सर्वांग-सरस एवं संतर्पक कृति में निःसार पद्यों को घुसेड़ देने से तो भारी असामंजस्य पैदा होता है । ऐसा करने का हमें, या किसी को मध्यकाल में भी, कोई अधिकार है या था, मानना बहुत मुश्किल है । इन अतिरिक्त चार पद्यों को स्वीकार कर लेने से किसी साम्प्रदायिक मान्यता को तो शायद “ठेस” नहीं पहुँचती, पर ऐतिहासिक प्रामाणिकता को, तथ्यवाद को तो गहरी चोट लग जाती है, भारी नुकसान हो जाता है ।

स्थानकवासी सम्प्रदाय में अमरचन्दजी मुनि से भी पूर्व ४८ पद्यों वाला पाठ प्रचलित था । जामनगर से सन् १९१५ में स्थानकवासी मुनि गिरधरलालजी द्वारा संशोधित ज्ञानसागर में जो भक्तामरस्तोत्र है, उसमें दिगम्बर पाठ वाले ४ अतिरिक्त पद्य लिए गये हैं और इससे भी पहले जैनहितेच्छु एवं जैनसमाचार (अहमदाबाद) के ग्राहकों को गुजराती में अनुवाद सहित भेंट दिए गये, ४८ पद्य वाले भक्तामरस्तोत्र की छपी हुई, नकल की मिति सन् १९०९ है । ऐसे और भी दृष्टान्त होंगे^{५१} । किन्तु केवल धार्मिक दृष्टिकोण से, एवं इतिहास से अनजान रहनेवाले लोग जो कुछ करते हैं

उनके औचित्य या अनौचित्य के विषय में कुछ भी आलोचना करना बेकार है । वे जो कुछ भी करें इसकी जिम्मेदारी उनके सिर पर और उनके द्वार पर ही रहती है । हम यहाँ जो चर्चा कर रहे हैं वह विद्वद्विश्व के ऐतिहासिक अन्वेषणों के स्वीकृत धोरणों (standards) पर आधारित है और तथ्यान्वेषण के परिप्रेक्ष्य में क्या सही हो सकता है, उपलब्ध प्रमाणों की बुनियाद पर क्या समीचीन लग रहा है, इतना ही कहना चाहते हैं । हम न दिगम्बर सम्प्रदाय को, न स्थानकवासी सम्प्रदाय को कुछ सलाह देने योग्य हैं, न देंगे कि आप “गम्भीरतार०” आदि ४ अतिरिक्त पद्यों को हटा दीजिए; न मंदिरमार्गी श्वेताम्बरों, न निर्ग्रन्थेतर विद्वद्जनों से आग्रह करेंगे कि आप उन चार विशेष पद्यों को स्वीकार कर लीजिए । जैसा कि ऊपर की गई लम्बी चर्चा में हम प्रमाणों के आधार पर देख आए हैं, मूलकर्ता को ४४ ही पद्य अपेक्षित रहे थे; अथवा आज जो उपलब्ध कृति है उसमें यदि मूल में ४८ पद्य रहे भी हों, ऐसा माना जाय तो भी, असल के चार पद्यों को तो लम्बे समय से गायब ही मानना पड़ेगा । अतिरिक्त चार पद्यवाले सभी गुच्छक मानतुंगाचार्य की मूल कृति में दिखाई देने वाली रोशनी और खूबसूरती से खाली हैं ।

श्रीमान् अगरचन्द नाहटा जी ने पं० अमृतलाल शास्त्री के खास प्रश्न के उत्तर में श्वेताम्बर ग्रन्थ-भण्डारों में से प्राप्त भक्तामरस्तोत्र की उपलब्ध जो प्रतियाँ प्राचीन हैं, उनके सम्बन्ध में पूरी सूचना पेश की थी और इस पर महामान्यवर ज्योतिप्रसाद जैन ने अपना प्रतिभाव दो भिन्न भिन्न स्थान पर अभिव्यक्त किया है । एक के विषय में तो हम पीछे देख चुके हैं; दूसरा स्थानवाला अवलोकन यहाँ आगे उपस्थित किया जायेगा । भक्तामरस्तोत्र के श्वेताम्बरमान्य पाठ की प्राचीन प्रतियाँ पाटण, खंभात, जैसलमेर, और पुणे के ग्रन्थ-भण्डारों में हैं । जिनमें से पहले तीन में तो ताड़पत्रीय अनेक पोथियाँ हैं । पाटण-सूचि में लिपि पर अनुमित काल नहीं दिया गया है; और जिन पोथियों में लिपि का वर्ष उद्धृत है उनमें नकल की गई अनेक कृतियों में से एकाध आदर्श की हैं; इसको भक्तामरस्तोत्र का लिपि-काल माना नहीं जा सकता, जैसा नाहटा जी ने मान लिया था । पर खंभात और जैसलमेर की प्रतियों के लिए लिपि पर से अनुमित मितियाँ वहाँ सूचि-ग्रन्थों में दी गई हैं, जिससे हम अनुमान कर सकते हैं कि इनमें से जो प्राचीनतम हैं, वे ईस्वी १३वीं शताब्दी की हैं और किसी-किसी का ईस्वी १२वीं उत्तरार्ध का होना असंभव नहीं । ठीक यही बात खंभात के भंडार की तीन प्रतियों की भी है । वहाँ भी तीन में से सबसे प्राचीन १३वीं शती में लिपिबद्ध हुई हो ऐसा अनुमान हो सकता है और यही स्थिति पाटण प्रतियों के समय के विषय में भी माननी होगी । इस विषय में विद्वन्मुख्य ज्योतिप्रसाद जी का अवलोकन यहाँ अक्षरशः प्रस्तुत करके, बाद में हमें जो कुछ कहना है कहेंगे । सबसे पहले उन्होंने भक्तामरस्तोत्र अनुलक्षित जो दिगम्बर कृतियाँ बनी हैं उनका तौलवदेशीय नागचन्द्र मुनि की सं० १५३१ (ईस्वी १४७५) में बनी हुई पञ्चस्तोत्र-टीका से लेकर सं० १८९१ / ईस्वी १८३५ तक का सिलसिलेवार ब्योरा दिया है; परन्तु इससे भक्तामर की दिगम्बर-मान्य गम्भीरतारादि पद्यों की प्राचीनता कैसे सिद्ध होती है, समझ में नहीं आता । वहाँ कृतियों की सूची दे देने के पश्चात् आगे चलकर आप श्रीमान् ने लिखा है : “इनके अतिरिक्त, सिंहान्वय के मुनि धर्मसिंह के शिष्य मुनि रत्नसिंह का प्राणप्रिय काव्य, जो ४८ श्लोकों की पादपूर्ति रूप है, उसे १८ वीं शती की रचना और उसके रचयिता रत्नसिंह

को लौकागच्छीय साधु मानने का नाहटा जी के पास क्या आधार है, यह उन्होंने कहीं सूचित नहीं किया। रत्नसिंह स्वयं अपने को सिंह संघ का अनुयायी बता रहे हैं। (श्रीसिंहसंघसुविनेयक-धर्मसिंह पादारविन्दमधुलिह-मुनिरत्नसिंहः) स्व० पं० नाथूराम प्रेमी (जै० सा० इ० पृ० ४९४) इनका परिचय दे चुके हैं। हमारा अनुमान है, पाहुड दोहा (अपभ्रंश) के कर्ता मुनि रामसिंह जिनका समय नाहटा जी भी ११वीं शती का मध्य स्वीकार करते हैं, की ही परम्परा में उपरोक्त धर्मसिंह और रत्नसिंह हुए हैं। सिंह संघ दिगम्बर आम्नाय का ही एक संघ था और १२वीं-१३वीं शती के बाद उसका कोई उल्लेख नहीं देखने में आया। अतः सम्भावना है कि मुनि रत्नसिंह और उनका प्राणप्रिय काव्य १२वीं या १३वीं शती का हो। अमृतलाल जी ने एक अन्य समस्यापूर्ति काव्य 'भक्तामर शतद्वयी' का भी उल्लेख किया है और बताया है कि उससे भी ४८ संख्या का समर्थन होता है किन्तु उन्होंने यह नहीं बताया कि यह दिग० रचना है या श्वे०। नाहटा जी भी इस विषय में मौन हो गये। ऐसा लगता है कि इसके रचयिता कोई श्वे० विद्वान् ही हैं। यदि ऐसा है तो श्वेताम्बर परम्परा में भी ४८ श्लोकी पाठ के प्रचलित रहने का समर्थन होता है। श्वेताम्बर सम्प्रदाय के ही स्थानकवासी आदि उपसम्प्रदायों में ४८ श्लोकी पाठ प्रचलित है। तीसरे, जैसा कि शास्त्री जी ने स्पष्ट किया है और नाहटाजी ने भी स्वीकार किया है, विवक्षित चार पद्यों के न रहने से स्तोत्र में आठ प्रातिहार्यों में से केवल चार का ही उल्लेख रह जायेगा। जिनेन्द्र के अष्ट-प्रातिहार्य सुप्रसिद्ध एवं उभय सम्प्रदाय मान्य हैं, तथा भक्तामरस्तोत्र की ही भाँति उभय सम्प्रदाय में मान्य कल्याणमन्दिर स्तोत्र में भी आठों प्रातिहार्यों का वर्णन है। कोई कारण समझ में नहीं आता कि स्तोत्रकार चार का ही वर्णन करके क्यों रुक जाते ?”^{५३}

“अस्तु इस विषय में कोई संदेह नहीं है कि भक्तामर स्तोत्र जैनों के सभी सम्प्रदायों में अत्यंत लोकप्रिय स्तोत्र है, इसके प्रचार की प्राचीनता यदि श्वे० परम्परा में १३वीं १४वीं शती तक पहुँचती है तो दिगम्बर समाज में उससे कम नहीं, यदि श्वे० परम्परा में उस पर अनेक कृतियाँ रची गईं तो दिग० लेखकों की भी एक दर्जन से अधिक कृतियों का हम ऊपर उल्लेख कर आये हैं, और भी हो सकती हैं। प्राप्त प्रतियों की प्राचीनता कहीं भी छः-सात सौ वर्ष से अधिक नहीं है - केवल ताड़पत्र पर होने से तो कोई प्राचीन नहीं होती। अतएव, यह कहना अत्यंत कठिन है कि स्तोत्र के मुख्यरूप में ४८ पद्य थे, या ४४, यद्यपि ४८ पद्यों से ही वह पूर्णता को प्राप्त होता है, अन्यथा अपूर्ण रहता है। उन चारों पद्यों में कोई ऐसी बात भी नहीं कि किसी की भी साम्प्रदायिकता को ठेस लगती हो। ऐसी स्थिति में क्या अन्तर पड़ता है कि किसी सम्प्रदाय में उसकी मान्यता की आपेक्षिक प्राचीनता सौ-पचास वर्ष कम या अधिक है। हमारी समझ से तो भक्तप्रवर मानतुङ्ग का यह अप्रतिम स्तोत्र जैन मात्र को भावनात्मक एकसूत्रता में बांधने वाली एक सुन्दर एवं उत्तम कड़ी है। ऐसी जितनी चीजें, जो सबको समान रूप से ग्राह्य हों, जितनी उजागर की जाय और प्रचार में लायी जाय, जिनशासन के लिए श्रेयस्कर होगा। ऐसी सर्वग्राह्य चीजों के विषय में साम्प्रदायिक दृष्टि से सोचना-समझना भी शायद ठीक नहीं होगा”^{५३}।”

इससे भी जो वे चाहते हैं उस लक्ष्य पर पहुँचना मुश्किल है। कारण हम बतायेंगे।

१) रत्नसिंह-धर्मसिंह जैसे अभिधानधारी मुनियों तो दिगम्बर परम्परा में मिलते नहीं हैं । दूसरी ओर श्वेताम्बरों में ऐसे नामधारी मुनि ईस्वी १५वीं से १८वीं तक हुए हैं (हाँ ! नाहटा जी ने प्राणप्रिय-काव्यकार धर्मसिंह को लोकागच्छीय मान लिया है, वह भ्रान्तिमूलक है । उस धर्मसिंह मुनि के गुरु का नाम खेमकर्ण था ।) फिलहाल प्राणप्रिय-काव्यकार को सिंह संघ का मुनि माना जाय तो भी वे कब हुए उसका अंदाज़ा एकदम सरल नहीं । ईस्वी ११वीं शती में होने वाले, अपभ्रंश में दोहा के कर्ता रामसिंह के अन्वय में ये मुनि हुए होंगे, यह कल्पना मात्र है । पहले तो प्राणप्रिय-काव्य की शैली देखने से ऐसा लगता ही नहीं कि वह मध्यकालीन कृति है । पुराने काव्यों पर पादपूर्ति रूपेण काव्यों की रचना करने के शौकीन श्वेताम्बर आचार्यों ने भी भक्तामर पर ऐसे काव्यों को ईस्वी १६वीं शताब्दी के अन्त से पहले रचा ही नहीं, यह बड़ा आश्चर्य है । यदि प्राणप्रिय-काव्य ईस्वी १२वीं-१३वीं की रचना है, ऐसा माना ही जाय तो वह देखकर श्वेताम्बरों ने उससे कम से कम १४वीं-१५वीं शती में भी प्रेरणा क्यों नहीं ली वह समझना बहुत मुश्किल है । (और दिगंबरोने बाद में एक भी ऐसी रचना नहीं की।) प्रेमी जी ने यह काव्य प्रकाशित तो किया था, पर किसी पुरानी प्रति के आधार पर नहीं, बल्कि मुखपाठ सुन कर^{५४}। दूसरी ओर कापड़िया जी ने उस काव्य की एक प्रति को सं० १७३० (ई० १६७४) होने का जिक्र किया है । अब इसको ईस्वी १२वीं-१३वीं शताब्दी की प्रतियों के बराबर या समकक्ष मानकर प्रमाणरूप ठहरवा देना इतिहास से सम्बद्ध सत्यान्वेषण में उपकारक कैसे सिद्ध हो सकता है, हमारी समझ से तो बाहर ही है ।

प्राणप्रिय-काव्य का आधार “गम्भीरतार०” वाले चार अतिरिक्त पद्यों वाली कृति है । इसलिए, “गम्भीरतार०” पद्य क्षेपक होने पर भी कब बने होंगे, वह बात विचारणीय है । उसके द्वितीय पद्य के आखिरी चरण में जो “तति” शब्द आता है वह यों तो स्तुत्यादि काव्यों में खास देखने को नहीं मिलता । यह शब्द भी वहाँ निरर्थक न होते हुए पद में अक्षरों के खाली रहते स्थान को भर देने में कुछ हद तक उपयुक्त माना जाता हो ऐसा भी संभव है । ऐसी ‘तति’ शब्द की प्रयोगाश्रित प्रवृत्ति दिगम्बर भट्टारक एकसन्धि की जिनसंहिता (प्रायः ईस्वी १३००-१३२५) में कई जगह देखने को मिलती है । क्या वे चार सुप्रसिद्ध क्षेपक पद्य भट्टारक एकसन्धि के तो बनाये हुए नहीं हैं ? यदि यह सच है तो उन चार प्रक्षिप्त पद्यों का समय भी ईस्वी १४वीं के प्रारम्भ के करीब माना जा सकता है ? इन पद्यों की शैली मानतुंग के पद्यों की शैली से भिन्न होने के अलावा स्पष्टतया बहुत ही पश्चात्कालीन है । भक्तामर के अन्य सभी पद्यों के मुकाबले में काव्य तत्त्व की दृष्टि से वे निकृष्ट हैं ही, परन्तु वे ईस्वी १२वीं-१३वीं शताब्दी की दिगम्बर-श्वेताम्बर स्तुत्यात्मक रचनाएँ, जैसे कि कुमुदचन्द्र का कल्याणमन्दिरस्तोत्र एवं चिकूर द्वात्रिंशिका (प्रायः ईस्वी १२वीं शती प्रथम चरण), द्वितीय देवनन्दी का सिद्धप्रियस्तोत्र (प्रायः ईस्वी १२७५ या इसके पूर्व), राजगच्छीय रत्नाकर सूरि कृत आत्मगर्हास्तोत्र (प्रायः ईस्वी १२५०) आदि के सामने रखे जाय तो कक्षा में उससे उतरी हुई कोटि के दिखाई देते हैं। ऐसी स्थिति में प्राणप्रियकाव्य, जिसमें ये क्षेपक पद्यों के चरण लिये हैं, ईस्वी १२-१३वीं शताब्दी में बने हों, किसी भी हालत में सम्भव नहीं । गम्भीरतारादि पद्य मूलकर्ता की रचना न होते हुए प्रायः ७०० साल बाद ही दाखिल कर दिया गया है । भट्टारक एकसन्धि तमिळ्लनाड के रहे होंगे । जिनसंहिता

के अन्दर दी गई स्थापत्य-विषयक परंपरा पूर्णतया द्राविडी परिपाटी की है । बहुत करके वे दक्षिण कर्णाटक-गंगवाडी-जैसे प्रदेश में हो गये होंगे । जो कुछ भी हो, यह पद्य इतने बाद के होने से मालव-लाट-वागडादि प्रदेशों में स्थित अन्य उत्तर मध्यकालीन दिगम्बर भट्टारकों के ध्यान में नहीं आया था । इन्हीं में से किसी न किसी ने क्षतिपूर्त्यर्थ अपनी-अपनी कल्पना के अनुसार चार-चार पद्यों को गढ़ दिया, जो आज करीब चार भिन्न-भिन्न गुच्छकों के रूप में पाए जाते हैं ।

इतिहासमार्तंड ज्योतिप्रसादजी का एक और कथन भी रहा कि “प्राप्त [श्वेताम्बर] प्रतियों की प्राचीनता भी कहीं भी छः, सात सौ वर्ष से अधिक नहीं केवल ताड़पत्र पर होने से तो प्राचीन नहीं होती ।” बात तो ठीक है: परंतु ज्योतिप्रसाद जी को पश्चिम भारत में इस अनुलक्ष में रहे एकाध-दो तथ्यों के सम्बन्ध में मालूमात नहीं रही । राजस्थान और गुजरात में मुस्लिम शासन हो जाने के पश्चात्, विशेषकर ईस्वी १४वीं शती पूर्वार्ध के बाद, ताड़पत्र की जगह कागज़ का उपयोग होने लगा था । १५वीं शताब्दी में तो ताड़पत्र की पोथियाँ वहाँ कम होने लगती हैं । दूसरी ओर ताड़पत्र की पोथी कितनी पुरानी है उसका निर्णय ताड़पत्र का परिमाण, अक्षरों के मरोड़ (shapes) और पंक्तिओं के आयोजन का ढंग आदि तत्त्वों और मितियुक्त पोथियों से इन तत्त्वों की तुलना पर आधार रखता है । आखिर ६, ७ या ८ सौ साल पुरानी प्रति मिल जाती ही है तो इस तथ्य की अवगणना नहीं की जा सकती । इस सन्दर्भ में पं० धीरजलाल टोकरसी शाह की नोंध (note) हम यहाँ उपस्थित करेंगे : “दिगम्बर सम्प्रदाय के पास भक्तामर की इतनी प्राचीन कोई प्रति हो ऐसा मालूम नहीं हुआ है । इस सम्बन्ध में हमने अनेक दिगम्बर पंडितों के साथ पत्र-व्यवहार तथा परामर्श किया है, पर वे ४८ श्लोकों वाली कोई प्राचीन प्रति का प्रमाण नहीं दे पाये” ।”

विद्वद्शिरोमणि ज्योतिप्रसाद जी जिस “भक्तामर शतद्वयी” का उल्लेख कर रहे हैं, उसकी सम्प्रदाय एवं समय-स्थिति वस्तुतया क्या है, वह भी देख लेना उपयुक्त है । कापड़िया जी का कथन है कि “यह दिगम्बर पं० लालाराम शास्त्री की रचना है । इसके विलक्षण दिखाई देते नाम से श्री अगरचन्द नाहटा ने उल्लेख किया है ।”^{५६} इस आधार पर श्वेताम्बरों में ४८ पद्यों का प्रचार पूर्वकाल में था, कहने के लिए कोई बुनियाद नहीं बनती । एक बात यह भी तो है कि नाहटा जी ने जो कुछ कहा है, ऐतिहासिक दृष्टि से, न कि साम्प्रदायिक दृष्टिकोण से । विद्वद्विश्ववंध ज्योतिप्रसाद जी शायद उनकी बात समझे नहीं हैं । इसके अलावा उन्होंने भक्तामरस्तोत्र को दोनों सम्प्रदायों के बीच जोड़ने वाली कड़ी इत्यादि बताया है, जिस विधान की यथार्थता निश्चयतया अप्रश्नीय है, इससे सबकी सम्मति ही हो सकती है ।

अब हम यहाँ इस विषय पर कटारिया जी द्वारा की गई कुछ विशेष टिप्पणियाँ सावलोकन पेश करेंगे, जिसे उन्होंने अपनी किताब के “परिशिष्ट” के अंतिम पृष्ठ पर अपनी “नोट” के रूप में पेश किया है, यथा-

“विष्वग्विभो सुमनसः किल वर्षयन्ति
न्यग्-बन्धनाः सुमनसः किमुताऽऽवहन्ति ।

सत्सङ्गताविह सतां जगती समस्ता
मामोदनां विहसतामुदयेन धाम्ना ॥१॥

द्वेधाऽपि दुस्तरतमःश्रम-विप्रणाशा-
दुद्यत्सहस्रकर-मण्डल-सम्भ्रमेण ।
वक्षे प्रभोर्वपुषि काञ्चन काञ्चनानां
प्रोद्धोद्धतं भवति कस्य न मानसानाम् ॥२॥

दिव्यध्वनिध्वनितदिग्वलयस्तवाऽऽहंन्
व्याख्यातरुत्सुक्य तेह्लशिवाध्वनोनात् ।
तत्त्वाऽर्थदेशनविधौ ननु सर्वजन्तु-
भाषा विशेषमधुरः सुरसार्थ ये ह्य ॥३॥

विश्वेक यत्र भटमोह महीमहेन्द्रं
सद्यो जिगाय भगवान् निगदन्निवेयम् ।
सन्तर्पयन् युगपदे मव यानि पुंसां
मन्द्रध्वनिर्नदति दुन्दुभिरुच्चकैस्ते ॥४॥

नोट— ये भिन्न चार अतिरिक्त श्लोक और मिलते हैं । भक्तामर स्तोत्र के ३२-३३-३४-३५ श्लोक में जिन ४ प्रातिहार्यों का वर्णन है वही इनमें हैं, ये अर्थकी दृष्टि से काफी सदोष हैं अतः कविकृत ज्ञात नहीं होते । इस प्रकार के २-३ तरह के श्लोक मिलने से किसी ने निर्णयाभाव में सबको ही छोड़ दिया हो (जिससे ४ प्रातिहार्य छूट गये) और एक बार यह परंपरा चल पड़ी तो फिर श्वेताम्बर समाज में रूढ़ ही हो गई जो आज श्वेताम्बर समाज के ३२ से ३५ तक के चार श्लोक न मानने का कारण प्रतीत होती है^{५७} ।”

कटारिया जी ने जो ये चार विशेष पद्य उपस्थित किए हैं वे मुख्यतः वही हैं जो साराभाई नवाब द्वारा प्रस्तुत किये गये थे । दोनों के बीच कहीं-कहीं पाठांतर है, जो इन्हीं पद्यों की दूसरी वाचना के अन्तर्गत करीब मिल जाता है । उनका अवलोकन है कि “इस प्रकार दो-तीन तरह के श्लोक मिलने से किसी ने निर्णयाभाव में सबको ही छोड़ दिया हो जिससे चार प्रातिहार्य छूट गये और एक बार यह परम्परा चल पड़ी तो फिर श्वेताम्बर समाज में रूढ़ ही हो गई जो आज श्वेताम्बर समाज के ३२ से ३५ तक चार श्लोक न मानने का कारण प्रतीत होती है:” लेकिन इससे सहमत होना मुश्किल है । भक्तामर के अनेक श्वेताम्बर वृत्तिकारों में से जरूर किसी न किसी ने अतिरिक्त पद्यों वाली घटना का उल्लेख तो किया ही होता । ऊपर हम व्यापक रूप से, समग्र समस्या को उसकी अखिलाई में देख आए हैं, और उसको यहाँ दोहराना अनावश्यक है । ये सभी गुच्छक जाली तो हैं ही, तदुपरांत काफ़ी पश्चात्कालीन भी हैं । मूल भक्तामरस्तोत्र के संग किसी का मेल है ही नहीं; इसीलिए “किसी” ने कुछ नहीं छोड़ा है । हाँ, अनेक दिगम्बर कर्ताओं ने अपनी ओर से, अपनी मति-शक्ति-गति के

अनुसार, मूल में क्षति मानकर उसकी पूर्त्यर्थ नये चार पद्य जरूर बना दिये थे, जिसके फलस्वरूप यह ज़बरदस्त उलझन पैदा हुई है और वह बहस इतनी गैरसमझन (misunderstanding) का कारण बन गई है। इसीलिए तो हमें समग्र पहलुओं को लेकर इतनी लम्बी चर्चा में उतरना पड़ा है।

कटारिया जी यह नहीं बता पाये हैं कि गुच्छक क्यों बन गया, किसने बना दिया और यह चार पद्य छोड़नेवाले “किसी” कौन थे। इन्हीं चार अतिरिक्त पद्यों के विविध गुच्छकों को देखकर मूल ४८ का ४४ पद्य बना देने वाले यदि श्वेताम्बर रहे तो आश्चर्य है कि विशेष गुच्छक श्वेताम्बरों के बजाय दिगम्बरों के यहाँ ही वे सब संरक्षित क्यों हैं? सवाल यह भी तो उठता है कि जब ४८ पद्ययुक्त रचना मौलिक ही थी तो दिगम्बर सम्प्रदाय के दायरे में और गुच्छक के बन जाने का मौका ही कहाँ रहता था? यदि माना जाय कि श्वेताम्बरों की ४४ पद्य वाली प्रतियों को देखकर ये सब गुच्छक बन गये तो सवाल उठता है कि ये सब कब बने थे? पहले ४८ पद्य रहे ही थे, फिर किसी भी कारणवश ‘किसी’ ने चार पद्य हटाकर ४४ बना दिया, जिसे देखकर श्वेताम्बरों में यह ४४ पद्य वाली प्रथा चल पड़ी। फिर इससे पैदा हुई विचित्र परिस्थिति से छुटकारा पाने के लिए, ऐसी प्रतियाँ देख कर, नये गुच्छक बना दिये गये; यह सब किस प्रकार का तार्किक सिलसिला है, समझ में नहीं आता! हमें तो लगता है कि यह सब भ्रान्तिचक्र ही है; इससे सत्य घटना का स्फोट नहीं होता; असल में दिगम्बरों के सामने भी मध्ययुग तक ४४ पद्यों वाली ही रचना थी। इसमें चार प्रातिहार्यों की अनुपस्थिति मानकर उसको पूर्ण करने की चेष्टा वहाँ अलग-अलग समय में भिन्न-भिन्न व्यक्तियों द्वारा जुदे-जुदे स्थानों में की गई। यह बात इतनी साफ़ है कि इसका स्पष्ट स्वीकार और निर्देश करने के बजाय कई और दिशाओं में विद्वान् घूम रहे हैं और मूल मुद्दे को घुमाते रहे हैं।

एक और भी बात विचारणीय है। दिगम्बर प्रभाचन्द्राचार्य ने भक्तामर के जिस पाठ पर अपनी टीका की है उसमें ४४ पद्य हैं या ४८? यदि ४८ हो तो क्या विशेष ४ पद्य गम्भीर तार० से शुरू होनेवाला गुच्छक था? यह मुद्दा बहुत ही महत्वपूर्ण है; लेकिन पं० अजितकुमार शास्त्री, डा० नेमिचन्द्र शास्त्री, पं० अमृतलाल शास्त्री, श्रीमन् कटारिया और विद्यावारिधि ज्योतिप्रसाद जैन ने, किसी भी कारणवश इसकी चर्चा तो नहीं की, साथ ही किसी तरह का परोक्ष निर्देश भी नहीं दिया! (डा० कापडिया ने इस सम्बन्ध में कुछ नहीं कहा वह इस लिए कि उनके देखने में सन्दर्भगत मूल टीका आयी ही नहीं थी। हमने भी इस बारे में कुछ तलाश की थी, पर कोई भी मित्र पता नहीं दे पाया। वह टीका पूरे स्तोत्र पर थी या नहीं इसका पता पहले लग जाना आवश्यक है।)

मुनिराज दर्शनविजय जी का इस विषय में क्या कथन रहा, वह अब देखना चाहेंगे। आपका विश्वास था कि “इन सब स्तोत्रों को पढ़कर कोई भी विद्वान् आपके (मानतुंग के) श्वेताम्बर होने का दावा कर सकता है। इसके लिए लोकप्रसिद्ध भक्तामर स्तोत्र के कतिपय श्लोकों के निम्नोक्त तथ्य विचारणीय हैं -

काव्य २५ में देवों के नाम से तीर्थंकर भगवान की तारीफ की है। इसमें औपचारिक उपमा है। दिगम्बर सम्प्रदाय में बाह्य उपचार इष्ट नहीं है। काव्य २९ में तीर्थंकर भगवान को सिंहासन में

रहे हुए बतलाए हैं (कल्याणमन्दिरस्तोत्र काव्य २३ में भी यही निर्देश है) दिगम्बर समाज भगवान को सिंहासन से भिन्न ऊपर रहे हुए मानता है, जबकि इस काव्य में प्रभु और सिंहासन का सम्बन्ध बताया गया है। काव्य २८, २९, ३०, ३१ में प्रभु की देवकृत विभूतियों — अशोकवृक्ष, सिंहासन, छत्र और चामर का वर्णन है। तीर्थकर की स्तुति में इस निकटवर्ती विभूति का वर्णन इष्ट माना गया है। श्री पार्श्वनाथ भगवान के ऊपर शेषनाग की फणा की जाती है, वह भी निजी विभूति है। जैसे इन विभूतियों के होने पर भी तीर्थकर वीतराग है, वैसे ही अभिषेक, पुष्पमाला, आंगीरचना, रक्षारोहण और करोड़ों रुपये के मन्दिर वगैरह विभूति के होने पर भी वीतराग, वीतराग ही है। दिगम्बर सम्प्रदाय इन बातों से सहमत नहीं है।

इस स्तोत्र में वस्तुतः महिमादर्शक दूरवर्ती विभूति जैसे — पुष्पवृष्टि, दिव्यध्वनि, भामण्डल और दुन्दुभि का वर्णन नहीं किया गया है। उस वर्णन का अभाव और निकटवर्ती विभूति के सद्भाव से “अंगपूजा” का पक्ष सप्रमाण हो जाता है। यह दिगम्बर विद्वानों को खटका और उन्होंने नये ४ काव्य बनाकर इस स्तोत्र में जोड़ दिये। असल में भक्तामर स्तोत्र के ४४ काव्य हैं, विक्रम की १२वीं शताब्दी के भक्तामर वृत्तिकार ने ४४ काव्य की वृत्ति की है। और आज भी श्वेताम्बर समाज ४४ काव्य को प्रमाण मानता है परन्तु दिगम्बर समाज ४८ काव्यों को मानता है।

काव्य २९ में प्रभु के भूमि पर चरणस्थापन और देवकृत कमलरचना का वर्णन है। दिगम्बर समाज योजन प्रमाण उच्च कमलों पर प्रभु का विहार मानता है।

काव्य ३३ में निकटवर्ती विभूतियों की तारीफ़ है। दिगम्बर समाज निकटवर्ती विभूति—महिमादर्शक क्रिया—अंगपूजा को वीतराग का दूषणरूप मानता है।

काव्य ३४ में भयभेदकत्व वर्णित किया है। काव्य ४४ में माला धारण करने का निर्देश है। दिगम्बर समाज इससे भी एतराज करता है।

इन सब काव्यों से आचार्य मानतुंगसूरि का श्वेताम्बर होना सिद्ध होता है। दिगम्बर समाज आप के भक्तामर स्तोत्र पर मुग्ध होकर उसे शास्त्र की श्रेणी में दाखिल करके आपको दिगम्बर आचार्य मान लेता है। दिगम्बर आचार्यों ने आपकी जीवनी को स्वीकारा है, सिर्फ़ उनमें से आपके गच्छ, गुरु, शिष्य और दूसरी ग्रन्थ-रचना को उड़ा दिया है। महापुरुष के अच्छे ग्रन्थ को अपनाना न्याय है किन्तु उनके ऊपर अपने सम्प्रदाय की मोहर-छाप लगा देना तो किसी तरह उचित नहीं है।

सारांश यह कि - “आ० मानतुंगसूरि श्वेताम्बर आचार्य हैं और आपको तथा आपके भक्तामर स्तोत्र को दिगम्बर सम्प्रदाय ने स्वीकारा है”।

मुनिजी की, स्तोत्र को श्वेताम्बर ठहराने की प्रायः एक-एक दलील का दिगम्बर विद्वान् आसानी से खंडन कर सकते हैं।

१) दिगम्बर सम्प्रदाय तीर्थकरों की इष्टदेवों के नाम से अर्थात् “बाह्योपचार उपमा” का सहारा

लेकर महिमा रूप प्रशंसा नहीं कर सकते, वहाँ वह इष्ट नहीं है, ऐसा नहीं है । पूज्यपाद देवन्दी ने समाधिगतक में ऐसी उपमा का आश्रय लेकर, दूसरे अर्थ में जिन को धाता आदि सब अभिधान घटित किया है, जिस पर यहाँ आगे अन्य सन्दर्भ में सोद्धारण विचार किया गया है ।

२) दिगम्बर सम्प्रदाय में तीर्थंकर के शरीर का सिंहासन से सम्बन्ध न हो ऐसा वहाँ तिलोत्पण्णत्ती आदि शास्त्रों में, या प्राचीन चरितों में तो स्पष्ट नहीं है ।

३) दिगम्बर मत में भी अष्ट-महाप्रातिहार्यों की कल्पना है ही जिससे अशोकवृक्ष, सिंहासन, छत्र और चामर जैसी निकटवर्ती विभूति का वहाँ सद्भाव इष्ट नहीं था, ऐसा कैसे कह सकते हैं ? सिंहासन, छत्रत्रय, चामरधर, भामंडलादि युक्त अनेक पुरानी दिगम्बर जिन प्रतिमाएँ मौजूद हैं ।

४) इन चार विभूतियों को अभिषेक, पुष्पमाल, आंगीरचना, रक्षारोहण इत्यादि से तुलना करके, पिछली इन सब क्रियाओं को भी विभूति मनवा के, एक संग रख देना अप्रासंगिक है । वीतराग जिनेश्वर को दोनों सम्प्रदाय अचेल ही मानते हैं । कम से कम ईस्वी पंचम शती पर्यन्त तो उत्तर की निर्ग्रन्थ परम्परा में भी जिन की प्रतिमाएँ निर्वस्त्र ही बनती थीं, यह बात मथुरा एवं अहिच्छत्रादि से मिली साभिलेख कुषाण एवं गुप्तकालीन प्रतिमाओं से स्पष्ट है । तीर्थंकर जब समवसरण में देशना देते थे, वहाँ उनके शिर पर मुकुट, बाजुबन्ध समेत मुगलाइ जरियान जामा, गले में हारादि और कटिमेखला आदि भी आ जाते थे, ऐसा श्वेताम्बर आगमों में तो क्या, आगम की व्याख्याओं और पुराने कथा-साहित्य में भी कहीं नहीं है । यदि कोई विद्यमान (साक्षात्) तीर्थंकर पर 'अभिषेक' करने जाय और उन पर अलंकार चढ़ाने की भक्तिपूर्वक भी चेष्टा करे तो उसको तो उपसर्ग-प्रवृत्ति ही माना जायेगा । किसीने, देवताओं ने भी, ऐसा किया हो ऐसा कहीं भी उल्लेख नहीं है । प्रतिमा पर चाहे सो चढ़ाओ, वह कहाँ मना करती है ! इसको 'विभूतियाँ' मनवाना ठीक नहीं माना जा सकता । श्वेताम्बर परंपरा में जिनप्रतिमा के अलंकारों आदि से श्रृंगारित करने की बात तो चन्द्रगच्छ (बाद में राजगच्छ) के अभयदेवसूरि की सिद्धसेन दिवाकर विरचित सन्मतिप्रकरण की वृत्ति (प्रायः ईस्वी १०वीं शती उत्तरार्ध) के अन्तर्गत आती है, इसके पहले वहाँ कहीं भी उसका उल्लेख हमारे देखने में नहीं आया । हाँ, प्रतिमा धोती सहित दिखाने की प्रथा लाट देश में, विशेषकर चैत्यवासी श्वेताम्बरों द्वारा, प्रायः पंचम शती अन्त से शुरू हो गई थी ऐसा आकोटा—प्राचीन अंकोटक—से प्राप्त आदिनाथ की पीतल की बड़ी प्रतिमा से सिद्ध हो चुका है । जिन-बिम्बों की ऐसी प्रस्तुति के पीछे अपने सम्प्रदाय और बोटिक (उत्तर के अचेल-क्षपणक) सम्प्रदाय की जिन-प्रतिमाओं से पृथक् करने का आशय रहा हो ! लेकिन प्रतिमाओं को, विशेषकर खड्गासन प्रतिमाओं को, हार और कटिमेखला से विभूषित दिखाने की श्वेताम्बरीय प्रथा मध्यकाल से प्राचीन नहीं । यह सब देखकर भक्तामर में समीपवर्ती चार विभूतियों के ही वर्णन से श्वेताम्बरीय 'अंगपूजा' का पक्ष कैसे सबल हो जाता है, समझ में आना मुश्किल है । यों तो दिगम्बर सम्प्रदाय में भी सिंहासन, छत्र, भामण्डल, चामरादि विभूतियों से युक्त अनेक प्राचीन जिन-प्रतिमाएँ उपलब्ध हैं; लेकिन वीतराग की अभिषेकादि अंगपूजा, वस्त्रालंकार की सजावट जैसी सरागभक्ति वहाँ सहज ही नहीं थी । वीतरागता और पद्मासनस्थ-समाधिस्थ मुद्रा से यह बात सुसंगत न होने से इष्ट नहीं मानी जा सकती

और न ही यह पक्ष भक्तामरस्तोत्र से समर्थित होता है ।

५) अब रही कमल-रचना की बात; काव्य २९ (वास्तव में ३३, दिगम्बर अनुसार ३७) में देवों द्वारा कमल के रचे जाने की वर्णना अवश्य दी गई है । पर वहाँ भूमि पर चरणस्थापना की बात स्पष्ट या प्रत्यक्ष रूप से नहीं कही गई है । सम्बन्धकर्ता पद्यांश इस प्रकार है-

पदौ पदानि तव यत्र जिनेन्द्र ! धत्तः ।
पदानि तत्र विबुधाः परिकल्पयन्ति ॥

इसका अर्थ है “(भगवन् !) आपके चरण जहाँ पड़ते हैं, वहाँ देवों के द्वारा कमल की कल्पना की जाती है ।” दिगम्बर सम्प्रदाय में “योजन प्रमाण उच्च कमलों पर प्रभु का विहार” की मान्यता होगी तो वह बाद की मालूम पड़ती है । वहाँ भगवान का आकाश में विहार और उस समय सहस्रदल-कमल के पदे-पदे प्राकट्य की कल्पना है । (हमने इस सम्बन्ध में विशेष चर्चा यहाँ मानतुंग के सम्प्रदाय से सम्बद्ध अष्टम अध्याय में की है ।)

६) काव्य ३३ (दिगम्बर ३७) में तो सामान्य रूप से जिनेन्द्र से सम्बद्ध विभूतियों की तारीफ़ है । वहाँ कहीं भी निकटवर्ती विभूतियाँ-अंगपूजा-की बात ही नहीं है । मुनि जी क्यों बार-बार अंगपूजा को अपेक्षित मानते थे, समझ में नहीं आता ।

७) काव्य ३४ (दिगम्बर ३८) में ही नहीं, बाद के सात काव्यों में भी जो कहा है वह सब मिलकर कुल अष्ट-महाभय निवारण की बात को लेकर जिनेन्द्र के नाम संकीर्तन के फलस्वरूप, केवल महिमावर्णन ही किया गया है । फिर भी मुनि जी की बात में कुछ हद तक तथ्य है । इससे सम्बद्ध विशेष विचार हमने यहाँ आगे किया है ।

८) मुनि जी का कथन है कि काव्य ४४ (दिगम्बर ४८) में “माला धारण करने का निर्देश है और दिगम्बर समाज इससे भी एतराज करता है” पढ़कर बड़ा आश्चर्य होता है । वह पद्य इस प्रकार है ।

स्तोत्रस्रजं तव जिनेन्द्र गुणैर्निबद्धां !
भक्त्या मया रुचिरवर्णविचित्रपुष्पाम् ।
धत्ते जनो य इह कण्ठ गतामजस्रं
तं मानतुङ्गमवशा समुपैति लक्ष्मीः ॥

“हे जिनेन्द्र ! मेरे द्वारा (आपके) गुणों को निबद्ध करने वाला भक्तिपूर्वक रचा गया (इस) स्तोत्र को पाठ करने वाले समुन्नत पुरुष को कण्ठ में सुन्दर रंगीन पुष्प (माला) धारण की शोभा प्राप्त होती है ।” यहाँ कहीं भी तीर्थंकर को तो माला धारण कराने की बात परोक्ष रूप से भी अभिप्रेत नहीं है । तो दिगम्बर को इससे एतराज क्यों हो सकता है ? केवल मुनि जी ही नहीं, जितने श्वेताम्बर लेखक स्तोत्र में प्रातिहार्य सन्निहित मानकर चले हैं, सब गलतफ़हमी में रहे हैं और अदालत के कठघरे में खड़े मुजरिम की तरह जवाब के रूप में चित्र-विचित्र, अप्रतीतिकर खुलासा करते रहे हैं । (कुछ ऐसी ही

युक्तियाँ मुनिवर न्यायविजय जीने कल्याणमन्दिरस्तोत्र को श्वेताम्बर ठहराने के लिए दी थी^{१९} ।)

आखिर में एक छोटा सा मुद्दा भी स्पष्ट कर देना चाहिए । मुनि जी द्वारा उल्लिखित १२वीं शती की कोई भक्तामर वृत्ति अब तक तो कहीं से भी नहीं मिली है ।

भक्तामर से सम्बद्ध हुई चर्चाओं में जो शेष बातें देखने में आती हैं इसका ब्योरा अब यहाँ देंगे, और इनके निष्कर्ष कहाँ तक समीचीन हैं, परीक्षा करेंगे । डा० रुद्रदेव त्रिपाठी के कथन से चर्चारंभ करेंगे ।

“दिगम्बर-सम्प्रदाय में प्रचलित ४८ पद्यों और श्वेताम्बर-सम्प्रदाय में प्रचलित ४४ पद्यों की मीमांसा ‘भक्तामर-रहस्य’ ग्रन्थ में श्री धीरजलाल भाई ने तथा भक्तामर-कल्याणमन्दिर-नमिउण-स्तोत्र प्रथम की भूमिका में श्री हीरालाल रसिकलाल कापड़िया ने पर्याप्त ऊहापोहपूर्वक की है । तत्सम्बन्धित एक छोटा सा लेख आगमोद्धारक आचार्य श्री सागरानंदसूरि जी ने भी लिखा है और इसमें ४४ पद्यों के होने की पुष्टि की है ।

इस विषय में मुझे भी कुछ माहिती (Information) प्राप्त करने की रुचि हुई । इस बारे में पुरानी हस्तप्रतियाँ देखते समय एक प्रति में ‘भक्तामरस्य चत्वारि गुप्तगाथाः’ मिली और इसकी प्रयोग विधि भी मिल गई । परन्तु वह अशुद्धप्रायः है । चत्वारि के स्थान पर वहाँ ‘चतस्रः’ होना चाहिए । ये चार पद्य इस प्रकार हैं -

ये: संस्तुवे गुणभृतां सुमनो विभाति (१), इत्थं जिनेश्वरः सुकीर्तयतां जनौ ते (२), नानाविधं प्रभुगुणं गुणरत्नगुण्या (३), और कर्णोऽस्तु तेन न भवानभवत्यधीराः (४) ।

ये पद्य दिगम्बरानुसारी ४८ पद्यों में आये हुए (गम्भीरतारादि) पद्यों की अपेक्षा जुदे हैं, इसलिए कदाचित् ये चार पद्य गुप्त हो सकते हैं, लेकिन इन श्लोकों के साधनार्थ जो विधान उनके साथ लिखा हुआ है, इसमें श्वेत-यज्ञोपवीत कंठ में धारण करने और रात्रि में हवन करने के लिए लिखा गया है, जो श्वेताम्बर परम्परा के विरुद्ध है ।

फिर भी पालिताणा के श्री जिनकृपाचंद्र सूरि भंडार द्वारा छापी गयी भक्तामर-स्तोत्र की भूमिका में श्री जिनविजयसागर जी ने लिखा है कि-“जिनेश्वराणामष्टौ....इति वृद्धसम्प्रदायः” अर्थात् जिनेश्वर के अष्ट-प्रातिहार्यों में से ४ प्रातिहार्यों के पद्यों को इनकी महाप्रभावशालिता के कारण, लाभालाभ पर विचार करके, दीर्घदर्शी पूर्वाचार्यों ने भंडारों में गुप्त कर दिया है; संप्रति दुर्लभ है और यदि प्रयास द्वारा मिल भी जाय तो भी इसका उपयोग करना नहीं । और इसकी पुष्टि में बताया है कि-भक्तामर-स्तोत्र के इन चार पद्यों की तरह ही उवसगहर स्तोत्र की एक गाथा, जयतिहुयण स्तोत्र की दो गाथाएँ, अजितशान्तिस्तोत्र की २ गाथाएँ और नमिउणस्तोत्र की स्फुलिंग सम्बन्धी दो गाथाएँ भी पूर्वाचार्यों ने कारणवश भंडारगत की हैं । इसलिए यह विषय संशयास्पद ही है^{२०} ।”

इन मुद्दों पर हमारे विचार इस प्रकार है । डा० त्रिपाठी ने जिन चार अतिरिक्त पद्यों का जिक्र

किया है, इस पर पीछे गवेषणा कुछ हद तक हो चुकी है । इसमें कोई संदेह नहीं, इसके कर्ता कोई पश्चात्कालीन दिगम्बर विद्वान् ही हैं । चार शेष प्रातिहार्यों से सम्बद्ध पद्यों को मंत्रमय होने के कारण गायब कर दिया गया है, ऐसी किंवदन्तियाँ अनपढ़-कमपढ़ भावुक नर-नारी, श्रद्धालु व्यापारी, मन्त्र-तन्त्र में आस्था रखने वाले एवं निर्ग्रन्थ सिद्धान्त में उसकी विसंगति न देख पाने वालों के लिए ठीक हो सकती है; अर्हत्प्रवचन पर अटल श्रद्धा, आत्मा की स्वाधीनता और शक्ति पर विश्वास रखने वाले मोक्षार्थी मुनिजन एवं उपासकों के लिए तो निहायत निकम्मा ही हो सकती है ।

भक्तामर के परिप्रेक्ष्य में अष्ट-महाप्रातिहार्यों के क्रम को लेकर जो कुछ विचार श्वेताम्बर विद्वानों ने किया है, उस पर कुछ ऊहापोह यहाँ किया जाता है । प्रा० कापड़िया ने यहाँ अपने ग्रन्थ की संस्कृत भूमिका में इस प्रकार लिखा है । “यदि समस्तानां प्रातिहार्याणां वर्णनमभीष्टमभविष्यत् स्तोत्रकर्तृणां तर्हि किं चामर-वर्णस्थाने आसन वर्णनात्मकं पद्यं ते व्यरचयिष्यम् ? दिगम्बर सूचिताधिकं पद्यस्वीकारे तु व्यतिक्रमो विशेषतो दरीदृश्यते, यतः तदा च क्रमो यथा- (१) अशोकवृक्षः, (२) सिंहासनम्, (३) चामरम्, (४) छत्रम्, (५) दुन्दुभिः, (६) पुष्पवृष्टिः, (७) भामण्डल, (८) दिव्यध्वनिः^{६१} ।” और फिर वहाँ अपनी गुजराती “प्रस्तावना” में आप लिखते हैं : “विशेषकर यहाँ यह भी ध्यान में लेने लायक हकीकत है कि इन चार प्रातिहार्यों का वर्णन सिंहासन के वर्णन के बाद क्रमपूर्वक नहीं है, क्योंकि क्रमानुसार तो चामर का वर्णन सिंहासन के वर्णन के बाद आना चाहिए । इससे विपरीत किया जाय तो व्यतिक्रम हो जाने का विशेष अवकाश दिखाई देता है, क्योंकि इसमें निम्नानुसार प्रातिहार्यों का वर्णन है :-

(१) अशोकवृक्ष, (२) सिंहासन, (३) चामर, (४) छत्र, (५) दुन्दुभि, (६) पुष्पवृष्टि, (७) भामण्डल, और (८) दिव्यध्वनि ।

इससे यह सवाल खड़ा हो जाता है कि जिन कविराज को आठों ही प्रातिहार्यों का वर्णन करना हो वे क्रमशः न करते हुए जो ठीक लगे, ऐसी रीति से क्यों किये ?^{६२}”

पं० धीरजलाल शाह का कुछ ऐसा ही कहना है । “भक्तामरस्तोत्र में अशोकवृक्ष, आसन, चामर तथा छत्र का वर्णन किया हुआ है, और शेष प्रातिहार्यों का वर्णन नहीं किया है, इससे रस में क्षति नहीं आती है । कविजन सर्वदा क्रम का ही अनुसरण करें, ऐसा नहीं होता है । उनके मन में जो भव्य एवं उदात्त कल्पनाएँ उठकर आती हैं उसे वे वाणी में उभारते चलते हैं और इस में ही उसकी शोभा बनती है ।

यदि क्रम की बात करें तो इन चार पद्यों में भी इसका मूल क्रम नहीं है, कारण कि इसका मूलक्रम तो निम्न श्लोकों से सूचित होता है; वह इस प्रकार से है :

अशोकवृक्षः सुरपुष्पवृष्टिर्दिव्यध्वनिश्चामरमासनं च ।

भामण्डलं दुन्दुभिरातपत्रं सत्प्रातिहार्याणि जिनेश्वराणाम् ॥

इस क्रम-प्रमाण से तो प्रथम चामर का और बाद आसन का वर्णन करना अपेक्षित था, पर हमारे ऊपर कहे गये हिसाब से वह कवि-कल्पना पर निर्भर है^{६३} ।”

श्वेताम्बर विद्वानों के इस खुलासे पर हमें तो कोई यकीन नहीं होता है । अष्ट-प्रातिहार्यों वाली तालिका क्रमांक ६ में हमने कोष्ठक में प्रत्येक स्रोत के भीतर सम्बन्धकर्ता प्रातिहार्य किस क्रमांक पर आता है, बता दिया है । वह देखते हुए स्पष्ट है कि वहाँ 'क्रम' से तो कोई सम्बन्ध है ही नहीं । एक ही पद्य में प्रातिहार्यों को बता देने वाले स्रोतों में तो कर्ता को छन्द में मात्रा-मेल और गणादि का ख्याल करना पड़ा है और गद्य वा दण्डकप्रायः शैली में लिखने वालों ने कुछ हद तक विभूतियों का आविर्भाव किस क्रम में होना स्वाभाविक दिखाई देता है, इस हिसाब से लिखा है । देशना के समय सबसे पहले व्यंतर देवों द्वारा चैत्यवृक्ष का सर्जन होता है; तत्पश्चात् सिंहासन, यक्ष-युग्म द्वारा धारण किया हुआ चामर, और छत्र प्रकट होता है । तीर्थंकर के आसनस्थ होते ही भामण्डल का आविर्भाव हो जाता है, दुन्दुभिनाद और कुसुमवृष्टि का आरंभ हो जाता है और दिव्यध्वनि सुनाई पड़ती है । मानतुंगाचार्य की वर्णना में प्रथम अशोकवृक्ष तत्पश्चात् सिंहासन, चामर और छत्रत्रय लिया गया है जो स्वाभाविक क्रम में ही है । पर इसके अतिरिक्त प्रातिहार्य रूप में मानी जाने वाली विभूतियाँ कवि की कल्पना में नहीं थी । जो वे कह गये, वह चार ही उनको अभीष्ट रहे एवं उनके लिए पर्याप्त थे, जैसा कि आवश्यकनिर्युक्तिकार, वसुदेवचरितकार, आवश्यकचूर्णिकार, चउपत्रमहापुरिसचरियकार आदि को । दूसरे शब्दों में वे अतिशय के विभाव को लक्ष्य करके चले हैं, अष्ट-प्रातिहार्यों से उनके मथन का सम्बन्ध है ही नहीं । फिर भी यदि यहाँ अष्ट-प्रातिहार्य अभिप्रेय थे, ऐसा बलात्कारपूर्वक कहना ही है तो हम और आगे बढ़कर कहेंगे कि दिगम्बर मान्य ३४ अतिशयों का वर्णन करने के लिए ३४ विशेष पद्य, और क्योंकि कवि समवसरण का वर्णन करना ही भूल गये हैं (दिव्य समवसरण के बिना अष्ट-महाप्रातिहार्यों का उद्भव कैसे ? सार्थकता कैसी ?) इसलिए १८ पद्यों में वह विषय निबद्ध करके स्तोत्र को शतक ही क्यों न बना दिया जाय ? कोई आपत्ति नहीं ! बल्कि स्तोत्र तब ही कृत्स्नरूपेण बनेगा और तब ही पूर्णतया "निर्दोष" भी कहा जा सकता है । (आज भी संस्कृत में पद्य रच सकने वाले पंडितों की कमी नहीं है ।)

पीछे हम देख आये है कि डा० रुद्रदेव त्रिपाठी ने अपनी प्रस्तावना में सूरिवर सागरानन्द जी द्वारा भक्तामर की पद्य संख्या के विषय में हुई चर्चा का उल्लेख किया था, किन्तु वह कहाँ की गई थी, कोई सन्दर्भ नहीं दिया । बहुत खोज के बाद उसका पता मिल जाने से यहाँ वह अनुवाद-रूपेण प्रस्तुत करके सूरेश्वर की दी गई युक्तियों पर आगे विचार किया जायेगा । सूरिजी द्वारा की गई मूलगत चर्चा प्रश्नोत्तरी के रूप में है ।

“प्रश्न ७३८- भक्तामर स्तोत्र में ४८ काव्य होने का कुछ लोग कहते हैं, जब कि कुछ कहते हैं कि असल में ही ४४ काव्य हैं, तब इन दोनों में से क्या माना जाय ?

समाधान - भक्तामर स्तोत्र से कल्याणमन्दिर स्तोत्र प्राचीन है, यह बात सर्वमान्य है । कल्याणमन्दिर के काव्य ४४ हैं, उसमें किसी का मतभेद नहीं है, तब कल्याणमन्दिर के अनुकरण से बाद में किये गये भक्तामर स्तोत्र में भी ४४ काव्य हों, यह ज्यादा संभावित है । जो लोग ४८ काव्य मानते हैं वे भी २८वें में अशोकवृक्ष, २९वें में सिंहासन, ३०वें में चामर तथा ३१वें में छत्र मानकर

३२वें में कमलों का स्थापित होना मानते हैं; अर्थात् यदि इन्हें प्रातिहार्य लेना होता तो २७वें काव्य में अशोकवृक्ष का वर्णन किये जाने के बाद सुरपुष्पवृष्टि और दिव्यध्वनि नाम के प्रातिहार्य का वर्णन करना छोड़ नहीं देते । चामर का वर्णन करने के पश्चात् भामण्डल और दुन्दुभि के प्रातिहार्य छोड़कर छत्र नामक प्रातिहार्य, जो आखिरी प्रातिहार्य के रूप में है, उसका वर्णन नहीं करते; इतना ही नहीं, देशना देने के लिए पधारते समय श्री जिनेश्वरदेव के चरण-कमल के नीचे देवता जिन पद्यों की स्थापना करते हैं, उसका वर्णन वह प्रातिहार्य न होने से, प्रातिहार्य के विभाग में नहीं करते, क्योंकि प्रातिहार्य की संख्या तथा क्रम इस प्रकार है :-

अशोकवृक्षः सुरपुष्पवृष्टि-दिव्यध्वनिशामरमासनं च ।

भामण्डलं दुन्दुभिरातपत्रं, सत्प्रातिहार्याणि जिनेश्वराणाम् ॥

इससे स्पष्टतया समझ में आ जायेगा कि भक्तामर में किया गया वर्णन केवल प्रातिहार्यों का नहीं है; एवं प्रातिहार्यों का वर्णन करना चाहा था और चार प्रातिहार्यों का ही वर्णन उपलब्ध स्तोत्र में दिखाई देता है, इसलिए रह जाने वाले चार प्रातिहार्यों के वर्णन वाले काव्य लुप्त हैं या किसी ने छिपा दिया है, ऐसा मानना असंगत है । प्रथम तो आठ के वर्णन में चार ही रहा और शेष का वर्णन लुप्त हो गया या छिपा दिया गया था ऐसा मानना विचक्षणों को ग्राह्य हो सके ऐसा नहीं है [;] इसलिए श्री मानतुंगसूरि ने चार प्रातिहार्य और कमल स्थापना का वर्णन धर्मोपदेश की जगत् के जीवों को स्पृहा करने योग्य समृद्धि की सत्ता दर्शाने के लिए किया है और इसलिए ३३वें काव्य में वे अशोकादिक का वर्णन करने के बाद उपसंहार में 'इत्थं यथा तव विभूतिः' ऐसा कहकर विभूति वाले प्रातिहार्यों एवं सूर्यप्रभा के अन्तर का विषय लेने से प्रभा अर्थात् कान्तिमान वस्तुओं का [,] कान्ति की अतिशयता के वर्णन से पूर्व [,] किया गया है ऐसा स्पष्ट रूप से ध्वनि करते हैं । सुरपुष्पवृष्टि वगैरह प्रभा अर्थात् कान्ति के अतिशयवाली वस्तु [के रूप में] न गिनाये वह स्पष्ट ही है । भामण्डल में रही हुई कान्ति [,] संसार में विभूति रूप माने जाने वाले पदार्थों से मिलती हुई न होने से अथवा श्री जिनेश्वर महाराज के शरीर के तेज का उसमें प्रतिबिम्बत्व होने से वह भामण्डल की स्वयं विभूति रूप में मनानेवाला कान्तिमान् [प्रातिहार्यों] में गणना न करके अशोकादिक कान्तिमानों की गणना की गई हो ऐसा ३३वाँ काव्य से भी स्पष्ट होता है [;] अर्थात् भक्तामर स्तोत्र के ४४ काव्य असल से हैं, ऐसा मानना श्रेयस्कर है।

तदतिरिक्त विभूति के वर्णन में उपसंहार वाले काव्य में यदि आठ प्रातिहार्यों का वर्णन होता तो प्रातिहार्यों के रूप में ही इसका उपसंहार होना चाहिए था और इसलिए यदि 'सत्प्रातिहार्य निचयस्तवयादृगस्ति' ऐसा कुछ आद्य पद्यवाला काव्य होता, जो नहीं है इसलिए भी कुछ ही प्रातिहार्यरूप विभूति के वर्णन वाले काव्यों से युक्त चवालीस काव्यों का ही भक्तामरस्तोत्र होता, ऐसा मानना युक्तिसंगत है^{६४} ।”

आगमोद्धारक सूरिवर सागरानन्दजी की दी गई कोई-कोई युक्तियाँ प्रतीतिजनक हैं, पर अधिकतर तथ्य-सम्मत नहीं दिखाई देती । सूरिप्रवर की कहीं-कहीं अति प्रलम्बित, पेचीली एवं घुमावदार, पुराने ढंग की, कुछ हद तक जैन मुनि-सहज गुजराती वाक्य-रचना को हिन्दी में सरलतापूर्वक रखना मुश्किल

तो है ही पर गुजराती भाषा जानने वाले के लिए भी तो वह एकदम आसान नहीं है । अब हम अपना अवलोकन पेश करेंगे ।

१) कल्याणमन्दिरस्तोत्र भक्तामरस्तोत्र से प्राचीन है ऐसी मान्यता सभी की नहीं है, न ही वह है तथ्यपूर्ण ! (दिगम्बर विद्वान् ऐसा नहीं मानते, और हम भी नहीं मानते^{६५} ।) कल्याणमन्दिरस्तोत्र दिगम्बराचार्य कुमुदचन्द्र की, ईस्वी १२वीं शती के प्रथम चरण में की हुई रचना है; जबकि भक्तामरस्तोत्र इससे कम से कम पाँच सौ साल पुरानी रचना है । इससे यदि अनुकरण हुआ है तो वह भक्तामरस्तोत्र का कल्याणमन्दिरस्तोत्र की रचना में, न कि इससे विपरीत ।

२) हम पिछले पृष्ठों में देख चुके हैं कि प्रातिहार्यों के वर्णन में कोई निश्चित क्रम नहीं है^{६६} । जहाँ एक ही पद्य में सभी प्रातिहार्यों के लिये दिये गये पद्य क्रम छन्द के अन्तर्गत आने वाले मात्रा-गणादि को ध्यान में लेते हुए, अनुकूलता के अनुसार, पद्यनिबन्धन में कलात्मकता-रसात्मकता को ध्यान में लेते हुए, रखा जाता है और जहाँ एक-एक प्रातिहार्य के लिए पृथक्-पृथक् काव्य दिया गया है, वहाँ भी क्रम में समानता नहीं है ।

जो पद्य सूरीश्वर ने उद्धृत किया है, वह हम पीछे प्रारम्भ की गई चर्चा में उसके मूल स्रोत के निर्देश समेत देख आये हैं । यह कोई प्रातिहार्यों के क्रम के लिए निश्चित धोरण (standard) के उदाहरण के रूप में नहीं माना जा सकता । न वह दिगम्बर साहित्य में मिल पाता है । हम यहाँ चार दिगम्बरकृत भिन्न-भिन्न स्तोत्रों में से जो पद्य पेश करेंगे जिससे इस तथ्य की और भी पुष्टि हो जायेगी । पहला पद्य शान्तिजिन की स्तुति के अन्तर्गत है । इसकी टीका प्रभाचन्द्र ने की है, इसलिए वह ११वीं शताब्दी के पूर्व की रचना होनी चाहिए^{६७} ।

दिव्यतरुः सुरपुष्पवृष्टिः

दुन्दुभिरासनयोजन घोषौ ।

आतपवारण चामर युग्मे

यस्य विभाति च मंडलतेजः ॥११॥

कवि भूपाल चक्रवर्ती के चतुर्विंशतिका-स्तोत्र (प्रायः १०-११वीं शताब्दी) का भी पद्यांश यहाँ पेश करेंगे^{६८}:

देवः श्वेतातपत्रत्रयमरिरुहाशोकभाश्रक्रभाषा ।

पुष्पौधासारसिंहासन पटहरैष्टभिः प्रातिहार्यः ॥

तीसरा है विष्णुसेन का समवशरणस्तोत्र, जो मध्यकालीन लगता है । यहाँ क्रम इस रूप में मिलता है^{६९}:

छत्रत्रयसिंहासनसुरदुंदुभिपुष्पवृष्टिभाषाशोकाः ।

भावलयचामराणीत्यष्टमहाप्रातिहार्यविभवसमेतः ॥१२॥

और चौथा है कोई अनामी कर्ता का मध्यकालीन जिनेन्द्रनमस्कार**:

भाषाप्रभावलयविष्टरपुष्पवृष्टिः

पिण्डिद्रुभस्त्रिदशदुन्दुभिचामराणि ।

छत्रत्रयेन सहितानि लसन्ति यस्य

तस्मै नभस्त्रिभुवन प्रभवे जिनाय ॥६॥

इतना ही नहीं, कल्याणमन्दिर-स्तोत्र, जो उभय सम्प्रदाय में समान रूप से सम्मानित-प्रचलित है, वहाँ भी यही हालत है, जो तालिका कर्मांक ६ में देखा जा सकता है ।

यह देखते हुए सूरिसम्राट की दलीलों का अर्थ नहीं रहता ।

३) भक्तामर की पद्य संख्या ४८ नहीं ४४ है, ऐसे सूरिजी के मंतव्य से अलबत्ता हम सहमत हैं, लेकिन वह अलग ही कारणों से, जिस विषय में पिछले पृष्ठों में लम्बी चर्चा हो चुकी है ।

टिप्पणियाँ :-

१. Jacobi, "Foreword," भक्तामर०, सूत्र १९३२, p. II.
२. "प्रस्तावना," स०-भ०-२०, पृ० ३०-३१.
३. इन विद्वानों में एक तो शायद ज्योतिप्रसाद जैन थे ऐसा स्मरण है । दुर्भाग्यवश इससे सम्बद्ध हमारी 'नोट' गायब हो जाने से यहाँ सन्दर्भ नहीं दे पायें ।
- *. अपवादरूपेण एक उत्तर मध्यकालीन दाखला जरूर मिलता है, लेकिन उसका वर्तमान सन्दर्भ में कोई उपयुक्तता नहीं है । (चर्चा के लिए देखिये "कुमुदचन्दाचार्य प्रणीत "चिकुर द्वात्रिंशिका" (सं० मधुसूदन ढांकी - जितेन्द्र शाह, निर्ग्रन्थ २, पृ० १६, टिप्पण १०.)
४. "भूमिका," (संस्कृत), भक्तामर०, पृ० ३५ तथा वही : "स्तोत्रयुगलनुं तुलनात्मक पर्यालोचन," (गुजराती), पृ० ३२-३३.
५. वही. परन्तु डा० नेमिचन्द्र शास्त्री का कहना ठीक है कि "भक्तामर के अंतरंग परीक्षण से यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि यह स्तोत्र कल्याण-मंदिर का पूर्ववर्ती है । कल्याण-मन्दिर में कल्पना की ऊँची उड़ानें है वैसे इस स्तोत्र में नहीं है । अतः भक्तामर के बाद ही कल्याण-मन्दिर की रचना हुई होगी । अतः भक्तामर की कल्पनाओं का पल्लवन एवं उन कल्पनाओं में कुछ नवीनताएँ चमत्कारपूर्ण शैली में पाया जाता है ॥" "कोई भी निष्पक्ष समालोचक उपर्युक्त विश्लेषण के प्रभाव में इस स्वीकृति का विरोध नहीं कर सकता है कि भक्तामर का शब्दों, पदों और कल्पनाओं और पदावलिओं का विस्तार कल्याण-मन्दिर में हुआ है ।" ("आचार्य मानतुंग," अनेकान्त १८.६, फर्रि १९६६, पृ० २४५ - २४६.)
६. भ० स्तो०, द्वितीय संस्करण, वाराणसी १९६९, पृ० १३.
७. फिर भी देखिये यहाँ आगे साराभाई नवाब के विचार ।
८. नवाब, पूर्वाचार्य०, बीजी आवृत्ति, अहमदाबाद १९६२, पृ० १३.

९. "श्री भक्तामर स्तोत्रनी समीक्षा," भक्तामर०, पृ० १३.
१०. "भ० स्तो०," अनेकान्त २.१, पृ० ७१-७२.
११. "प्रस्तावना," स०-भ०-र०, पृ० २९.
१२. "भ० स्तो०," अनेकान्त २.१, पृ० ७१-७२.
१३. "भ० स्तो०," जै० नि० र०, पृ० ३४०.
१४. वही, पृ० ३४० - ३४१.
१५. वही, पृ० ३४०.
१६. वही, पृ० ३४१.
१७. पूर्वाचार्य०, पृ० १२-१३.
१८. कापड़िया, "भूमिका," भक्तामर०, पृ० २.
१९. D. C. M. G. M. L., Vol. XIX, Sec. 1, Hymnology, B. O. R. Z., Poona 1962.
२०. "प्रस्तावना," पूर्वाचार्य०, पृ० १२.
२१. वही, पृ० १३.
२२. कापड़िया, भक्तामर०, पृ० ८३.
२३. काव्यमाला, गु० ७, मुंबई १८९६, पृ० १.
२४. "भूमिका," भक्तामर०, पृ० २.
२५. "आ० मा०," अनेकान्त १८.६, पृ० २४३-२४४.
२६. वही, पृ० २४४. ये सभी पद्य पीछे उद्धृत किये गये गुच्छकों से भिन्न हैं । यदि डा० नेमिचन्द्र जी ने पूरे ही पूरे पद्यों को दे दिया होता तो पूरा आकलन हो सकता था ।
२७. ज्योतिप्रसाद जैन, "प्रस्तावना," स०-भ०-र०, पृ० २८.
२८. वही, पृ० २९.
२९. U. P. Shah, "Evolution of Jaina Iconography and Symbolism," *Aspects of Jaina Art*, Ahmedabad 1975, pp. 49-74, Figs. 1-28.
३०. ठाणांगसूतं समवायांगसुतं च, सं० मुनि जम्बूविजय, जैन-आगम-गन्धमाला : ग्रन्थाङ्क ३, मुंबई १९८५, पृ० ३९२.
३१. आगासगतेनं चक्रेनं आगासगतेनं छत्तेनं आगासिताहिं चामराहिं आगास-फलियायकोनं सपादपीठनं सिंहासनेनं धमज्झएनं पुरुओ.... इत्यादि (देखिए उववाय सुत्तं, सं० गणेश लालवानी, प्राकृत भारती अकादमी, जयपुर १९८८, पृ० ३६, हमने यहाँ महाराष्ट्री प्राकृत के रूप बदल के अर्धमागधी अनुसारेण रख दिया है ।)
३२. आवश्यकनिर्युक्ति भाग १, मुंबई १९८२, पृ० १५५.
३३. उपर्युक्त.
३४. आवश्यकचूर्णिं, श्री ऋषभदेवजी केसरीमलजी श्वेताम्बर संस्था, रतलाम १९२८, पृ० ३२५-३२६. (यह विवरण निर्युक्ति गाथा ५४३ के खुलासा के रूप में दिया गया है ।)

३५. विशेषावश्यकभाष्य, (द्वितीयो भाग), लालभाई दलपतभाई श्रेणि, क्रमांक १४, अमदावाद १९६८, पृ० ३४१.
३६. देखिए चउपत्रमहापुरिसचरिय, सं० पं० अमृतलाल मोहनलाल भोजक, प्राकृत ग्रन्थ परिषद् ग्रन्थाङ्क ३, वाराणसी १९६१, पृ० ३०३-३०४, आर्या ४५२-४५४.
३७. पउमचरिय, प्राकृत ग्रन्थ परिषद, ग्रन्थाङ्क ६, (मूल) संपादक हरमन्न यकॉबी, संशोधक एवं पुनः संपादन मुनि पुण्यविजय, वाराणसी १९६२, २.२५१ तथा पृ० ११-१२.
३८. वही ग्रन्थ, पृ० १२.
३९. वसुदेव हिण्डी, (प्रथम खण्ड), श्री आत्मानन्द-जैनग्रन्थरत्नमाला, रत्न ८०, सं० मुनि चतुरविजय एवं मुनि पुण्यविजय, भावनगर १९३०, पृ० ३४१.
४०. सं० मुनि श्री पुण्यविजयजी, प्राकृत ग्रन्थ परिषद् ग्रन्थाङ्क १०, वाराणसी-अमदावाद १९६६, पृ० ४.
४१. तिलोयपण्णत्ती, सं० आ० ने० उपाध्ये - हिरालाल जैन, जीवराज जैन ग्रन्थमाला, क्रमांक १, भाग १, शोलापुर १९४३, पृ० २६४-२६५.
४२. वीरसेवामन्दिर-ग्रन्थमाला ग्रन्थाङ्क ९, सहारनपुर १९५०, पृ० ९-१०.
४३. देखिए उनका "देवनन्दिका जैनेन्द्र व्याकरण," जैन साहित्य और इतिहास, बम्बई १९५६, पृ० ४८, पृ० ४२२.
४४. वही, पृ० ४२३.
४५. देखिए हुम्बज-श्रमण-सिद्धान्त पाठावलि, जयपुर १९८२, ("निर्वाण भक्ति" अंतर्गत), पृ० १३९.
४६. वही, पृ० १४६-१४७.
४७. वहाँ भाग १, सं० आ० ने० उपाध्ये, सिंधि जैन शास्त्र विद्यापीठ, मुंबई १९५९, पृ० ९७.
४८. U. P. Shah, "Evolution of Jaina Iconography and Symbolism," *Aspects of Jaina Art*, (Eds. U. P. Shah & M. A. Dhaky), Ahmedabad 1975), pp. 52, 54, 57, 58.
४९. कटारिया, "भक्तामर०," पृ० ३३८-३३९.
५०. वही, पृ० ७२.
५१. वस्तुतया पूरा स्थानकवासी सम्प्रदाय में इस स्तोत्र का ४८ पद्यवाला दिगंबर-मान्य पाठ ही प्रचलित है ।
५२. ज्योतिप्रसाद जैन, "भक्तामर०," जैन-संदेश, शो० २९, पृ० २१९.
५३. वही, पृ० २२०.
५४. जै० सा० इ०, बम्बई १९५४, पृ० ४१३-४१४
५५. देखिए उनका " नामकरण तथा पद्यप्रमाण," भक्तामर-रहस्य, मुंबई १९७१, पृ० ५१.
५६. कापडिया,
५७. कटारिया, जै० नि० र० परिशिष्ट, पृ० ४३८.
५८. मुनि दर्शनविजय, "दिगम्बर शास्त्र कैसे बने ? प्रकरण ११, आ० श्री मानतुंग सूरि," जै० स० प्र०, पु० २, अंक १०, १९३७, पृ० ५१७-५१८.
५९. हम उनके विचारों की समीक्षा हमारा ग्रन्थ श्रीबृहद् निग्रन्थ स्तुतिमणिमंजूषा में कर रहे हैं ।

६०. “प्रस्तावना,” भ० १०, पृ० १९-२०.
६१. देखिए उनकी “भूमिका,” भक्तामर०, पृ० ३.
६२. वहीं, “गु० प्र०,” पृ० १४.
६३. देखिए “नामकरण तथा पद्यप्रमाण,” भ० १०, पृ० ४९.
६४. देखिए “प्रश्न ७३८,” और उसका “समाधान,” सागर समाधान, भाग १, श्री जैन पुस्तक प्रचारक संस्था, सूरत, दूसरी आवृत्ति, वि० सं० २०२८ (ईस्वी १९७२), पृ० २८७-२८८.
६५. इस पर हमारी ओर से सविस्तर चर्चा अन्यत्र (निर्ग्रन्थ-२ में) हो चुकी है, और वहीं देख लें ।
६६. कुछ हेमचन्द्रादि मध्यकालीन श्वेताम्बर कर्त्ताओ ने अलबत्ता उसी क्रम में रखने का प्रयास जरूर किया है, लेकिन सरसरी तौर पर वर्णना में ऐसा क्रम देखने को नहीं मिलता है ।)
६७. देखिए “शान्तिभक्ति,” हु० श्र० पा०, पृ० १३२.
६८. वही ग्रन्थ, पृ० ३२, पद्य १.
६९. देखिए, सिद्धान्तसारादिसंग्रहः, सं० पन्नालाल सोनी, माणिकचन्द्र-दिगम्बर-जैन ग्रन्थमाला, ग्रन्थ २१, बम्बई वि० १९७९ (ईस्वी १९२३).
७०. जिस स्तुति में से यह पद्य उद्धृत किया गया है, वह स्रोत अभी अनुपलब्ध होने के कारण दिखा नहीं पाये । अतः क्षमापार्थी हैं ।

(तालिका क्रमांक ५)
(श्वेताम्बरमान्य) देवकृत दृश्यमान अतिशय

क्रमांक	कृति	१	२	३	४	५	६	७	८
१	औपपातिकसूत्र (प्रायः ईस्वी ३००)	—	पादपीठयुक्त सिंहासन (४)	चामर (३)	छत्र (२)	—	—	चक्र (१)	धर्मध्वज (५)
२	समवायांगसूत्र (संकलन प्रायः ईस्वी ३५३ वा ३६६)	अशोक वृक्ष (५)	सपादपीठ सिंहासन (६)	श्वेतचामर (४)	छत्र (३)	—	भामंडल (४)	चक्र (१)	इन्द्रध्वज (२)
३	नगोन्द्रवंशीय विमलसूरि कृत पउमचरिय (प्रायः ईस्वी ४७३)	अशोक (वृक्ष) (४)	सिंहासन	चामर (३)	छत्राधिछत्र (२)	—	भामंडल (५)	—	—
४	आवश्यकनिर्युक्ति (प्रायः ईस्वी ५२५)	चैत्यदुम (१)	आसन (२)	चामर (४)	छत्र (३)	—	—	—	—
५	संघदासगणि कृत वसुदेव- चरित (वसुदेवहिण्डी) (प्रायः ईस्वी ५५०)	रक्ताशोक सिंहासन (१)	सपादपीठ	चामर (४)	छत्राधिछत्र (३)	देवदुन्दुभि (प्रारम्भ में निर्देश)	—	—	—
६	जिनभद्राणिक्रमाश्रमण कृत विशेषावश्यकभाष्य (प्रायः ईस्वी ५८५)	रक्ताशोक (२)	सिंहासन (१)	चामरद्वय (४)	श्वेतछत्र (३)	—	—	—	—

७	आवश्यकचूर्णि (प्रायः ईस्वी ६००-६५०)	अशोक वृक्ष या चैत्यवृक्ष अशोक (१)	सपादपीठ सिंहासन सपादपीठ सिंहासन (२)	चामर (३)	छत्राधिछत्र (४)	—	—	—	—
८	भक्तामरस्तोत्र (प्रायः ५७५-६२५)	अशोकरु (१)	सपादपीठ सिंहासन (२)	श्वेतचामर (३)	छत्रत्रय (४)	—	—	—	—
९	श्रीलाचार्य कृत चउपन्नमहापुरिसचरिय (ईस्वी ८९९)	कंकोलि (१)	सिंहासन (३)	चामर (५)	छत्राधिछत्र (२)	—	भामण्डल (४)	—	—

(तालिका क्रमांक ६)
अष्टमहाप्रातिहार्य

क्रमांक	कृति	१	२	३	४	५	६	७	८
१	नागेन्द्रवंशीय विमलसूरि कृत पउमचरिय (प्रायः ईस्वी ४७३)	आसन (१)	छत्राधिछत्र (२)	चामर (३)	भामंडल (४)	कल्पद्रुम (५)	दुन्दुभिघोष (६)	पुष्पवृष्टि (७)	(दिव्यध्वनि) —
२	तिलोयपण्णत्ती (प्रायः ईस्वी ५५०)	सिंहासन (३)	छत्रत्रय (२)	चतुष्ष चामर (८)	भामंडल (७)	अशोकवृक्ष (१)	दुन्दुभि (५)	पुष्पवृष्टि (६)	गण (४)
३	स्वामी समन्तभद्रकृत स्तुतिविद्या (प्रायः ईस्वी ६००)	आसन (२)	छत्र (६)	चामर (७)	भामण्डल (१)	अशोक (३)	दुन्दुभि (८)	सुमनोवर्षा (५)	दिव्यध्वनि (४)
४	सूत्रकृतांगचूर्णि (प्रायः ईस्वी ६७५-७००) एवं नन्दीसूत्र की हारिभद्रादीयाटीका के अन्तर्गत उद्धरण	आसन (५)	आतपत्र (८)	चामर (४)	भामंडल (६)	अशोकवृक्ष (१)	दुन्दुभि (७)	सुपुष्पवृष्टि (२)	दिव्यध्वनि (३)
५	उद्योतनसूरिकृत कुवलयमाला कहा (ईस्वी. ७७८)	आसन (१)	छत्रत्रय (५)	चामर (६)	भामंडल (२)	अशोक (४)	दुन्दुभि (३)	कुसुम (७)	दिव्यध्वनि (८)
६	अज्ञात (यापनीय) कर्ता का ३४ अतिशय- अष्ट प्रातिहार्य स्तवन (प्रायः ७वीं शती)	सिंहविष्टर (८)	छत्रत्रय (६)	चामर युगल (३)	भामंडल (४)	(रक्त) अशोक (१)	दुन्दुभि (५)	कुसुमवृष्टि (२)	दिव्यध्वनि (७)

७	पुत्राटसंघीय जिनसेनकृत हरिवंशपुराण (ईस्वी ७८४)	हेम सिंहासन (७)	श्वेत छत्रत्रय (४)	भामंडल (५)	अशोक (६)	दुन्दुभि (३)	सुरपुष्पवृष्टि (१)	भाषा (२)	—
८	पंचस्तूपान्वयी भावज्जिनसेन कृत आदिपुराण (प्रायः ईस्वी ८५०)	पीठ (१)	छत्रत्रितय या छत्रत्रय (४)	चामरालि, चामर पंक्ति (५)	परिप्रभा (७)	अशोक (३)	सुरदुन्दुभि (६)	पुष्पवृष्टि (२)	महादिव्यध्वनि (८)
९	दिगम्बराचार्य कुमुदचन्द्र कृत कल्याणमन्दिस्तोत्र (प्रायः ईस्वी ११००-११२५)	सिंहासन (४)	सितातपत्र (८)	चामर (५)	द्युतिमण्डल (१)	अशोकतरु (७)	सुरदुन्दुभि (३)	सुरपुष्पवृष्टि (२)	गिरा (६)
१०	नेमिचन्द्रसूरी कृत प्रवचनसारोद्धार (प्रायः ईस्वी ११७५)	आसन (५)	छत्र (८)	चामर (४)	भावलय (१)	कंकोल्लि (७)	भेरि (२)	कुसुमवृष्टि (३)	देवध्वनि

भक्तामर का आंतरदर्शन

यों तो भक्तामर का प्रकाशित पाठ काफ़ी विशुद्ध दिखाई देता है, फिर भी कहीं-कहीं कुछ स्थानों पर छपे हुए पाठों में थोड़ा सा अन्तर भी मिलता है, जिनके पीछे प्रसिद्धकर्त्ताओं को मिली हुई प्रतियों के पाठ कारणभूत रहे होंगे । स्तोत्र की श्वेताम्बर आवृत्ति विशेषकर गुणाकरसूरि के दिये गये पाठ पर आधारित है । पर अब तक किसी ने पाटन, खंभात एवं जैसलमेर के ग्रन्थ भण्डारों में उपलब्ध प्राचीनतम ताड़पत्रीय पोथियों को आदर्श बनाकर पाठ को सुनिश्चित नहीं किया है । सर्वप्रथम प्रा० कापड़िया के संस्करण के अन्तर्गत पादटीपों में कहीं-कहीं टिप्पणों के संग पाठान्तरों को भी दिया गया है । दूसरी ओर कटारिया जी ने भी स्तोत्र में दिगम्बर प्रतियों में मिले पाठान्तरों की सूची तैयार की है । इन दोनों को मिलाकर जिनमें स्पष्ट अन्तर दिखाई देता है, ऐसे पाठान्तरों की सूची हमने भी मूलस्तोत्र के पीछे दी है ।

कटारिया महोदय ने प्रचलित पाठ में ऐसे एक पाठान्तर के आधार पर बहुत ही महत्त्व का सुधार सूचित किया है । यहाँ हम उनके कथन को यथातथ उद्धृत करना ठीक समझते हैं । उनकी दी गई युक्ति को उन्हीं के शब्दों में ग्रहण करना आसान रहेगा । “श्लोक ४२में “बलवतामपि भूपतीनां” पाठ प्रचलित है, जिसका अर्थ है कि-“युद्ध में बलवान राजाओं की भी सेना आपके स्तवन से शीघ्र विनष्ट हो जाती है ।” इस पर संभवतः यह शंका होती है कि बलवान राजा तो स्वपक्ष में और स्वयं भी हो सकता है, फिर स्तुतिकार उनका विनाश कैसे चाहेगा ? इसका समाधान वि० सं० १५६३ के बसवा ग्राम के एक गुटके से होता है । उसमें “बलवतामरि भूपतीनां” शुद्ध पाठ पाया गया है जिससे श्लोकार्थ इस प्रकार होता कि “युद्ध में बलवान शत्रु राजाओं की सेना आपके स्तवन से शीघ्र विनष्ट हो जाती है ।” ‘अपि’ की जगह ‘अरि’ शुद्ध पाठ होने से श्लोक कितना सुसंगत और निर्दोष हो गया है यह बताने की जरूरत नहीं है । विज्ञ पाठक इसकी खूबी का स्वयं अनुभव कर सकते हैं, फिर भी एक बात में यहाँ और बता देना चाहता हूँ कि—प्राकृत में २३ गाथात्मक एक “भयहरस्तोत्र” है जो श्वेताम्बरों के यहाँ से “जैन स्तोत्र संदोह” द्वितीय भाग में प्रकाशित हुआ है । इस स्तोत्र को भी मानतुंग की ही कृति बतलायी जाती है क्योंकि ‘भक्तामर स्तोत्र’ की तरह इसके भी अंतिम श्लोक में (श्लेषात्मक) मानतुंग शब्द पाया जाता है । भक्तामरस्तोत्र में जिस तरह ८ भयों का वर्णन है उसी तरह ‘भयहरस्तोत्र’ में भी है । इसकी १७ वीं गाथा में ‘रण’ भय के अन्तर्गत रिउणरिन्द (रिपुनरेन्द्र) शब्द मिलता है जिससे भक्तामरस्तोत्र के ‘अरिभूपतीनां’ शुद्ध पाठ का समर्थन होता है* ।”

कटारिया जी द्वारा सूचित यह पाठ-विशुद्धि बहुत ही मर्मयुक्त एवं उपयुक्त है और यहाँ हमने इसको स्वीकार किया है ।

गुणाकर सूरि के पाठ में दसवें पद्य के प्रथम चरण में “नात्यद्भुतं भुवनभूषणभूत !नाथ !” ऐसा पाठ है, पर कापड़िया जी ने पदच्छेद के आधार पर पादटीप में “नात्यद्भुतं भुवनभूषण ! भूतनाथ !” पाठ को समीचीन बताया है सो ठीक है^२ । अमृतलाल शास्त्री के, एवं कुछ अन्य आधुनिक दिगम्बर प्रकाशनों में भी, इसी प्रकार का पाठ लिया गया है; और हमने भी यहाँ उसी स्वरूप को स्वीकार किया है ।

कटारिया महोदय ने एक और गलती की तरफ ध्यान खींचा है । “श्लोक ६ में “तच्चारुचाप्रकलिका” पाठ प्रचलित है । यह पाठ मूल ग्रन्थकार कृत नहीं है । प्राचीन प्रतियों में “तच्चारुचूतकलिका” पाठ ही पाया जाता है । प्राणप्रिय काव्य, जिसके भक्तामर स्तोत्र के प्रत्येक श्लोक का अंतिम चरण समस्यापूर्ति के रूप में ग्रहण किया गया है, उसमें भी “तच्चारुचूतकलिका” पाठ ही उपलब्ध होता है । अतः यही पाठ मूल ग्रन्थकार कृत ज्ञात होता है लेकिन इसमें ‘चूत’ शब्द को अश्लील समझकर उसकी जगह ‘चाप्र’ पाठ का परिवर्तन कर दिया गया है । यह परिवर्तन भी ३००, ४०० वर्ष प्राचीन प्रतियों में पाया जाता है किन्तु ‘चाप्र’ में जो ‘च’ है वह समासादि की दृष्टि से सदोष है । अतः आज के युग में उसे भी संशोधित कर ‘तच्चारुचाप्रकलिका’ पाठ बना दिया गया है । इसमें चाप्र को पहले रख दिया है और चारु को बाद में । इससे समास सम्बन्धी दोष तो दूर हो गया है किन्तु इसमें भी ‘च’ शब्द व्यर्थ रह गया है ।

मूल स्तोत्रकार ने ‘चूत’ शब्द का प्रयोग ‘आप्र’ अर्थ में किया है, किसी अश्लील अर्थ में नहीं। अतः किसी प्रान्तीय अर्थ को लेकर किसी शब्द विशेष में अश्लीलता का आरोप समुचित नहीं^३।”

यद्यपि उन्होंने कटारिया जी का लेख नहीं देखा है फिर भी प्रबुद्ध जीवन के तंत्री महोदय प्रा० रमणलाल शाह का कुछ ऐसा ही अवलोकन रहा है । सम्बन्धकर्ता पादपाठ का शब्दान्तर देने के बाद आपने कहा है : “इन दोनों पाठों में केवल एक शब्द का ही फर्क है । ‘चूत’ के स्थान पर अधिकांश लोग ‘आप्र’ बोल देते हैं । ‘चूत’ शब्द का अर्थ आप्र-वृक्ष होता है और ‘आप्र’ शब्द का अर्थ भी आप्र-वृक्ष होता है । परन्तु कवि प्रयोजित मूल शब्द तो ‘चूत’ ही है । सभी प्राचीन पाण्डुलिपियों में इस तरह ही है । संस्कृत में ‘चूत’ शब्द बहुत ही प्रचलित है । आम के पेड़ के अर्थ में यह बहुधा प्रयोग में आया है और अच्छी तरह रूढ़ भी हुआ है । परन्तु आखिर के एक-डेढ़ सदी से ‘चूत’ शब्द गुजराती, हिन्दी, मराठी एवं पंजाबी वगैरह भाषाओं में स्त्रीलिंग-दर्शक शब्द के अर्थ में प्रचलित बन गया है । इसलिए यह शब्द किसी को अश्लील या बीभत्स लगे, ऐसा संभव है । इस कारण किसी पंडित ने अपनी तरफ से ‘चूत’ के बदले इसका पर्याय रूप ‘आप्र’ शब्द रख दिया है, जो छंद की दृष्टि से बैठ जाता है । पाठशालाओं में शिशुओं के लिए भी किसी-किसी को उपयुक्त लगा है । परन्तु यह एक अनधिकृत चेष्टा है । कवि ने जो शब्द प्रयोजित किया उसको अपनी मर्जी के मुताबिक, लोकाचार को लक्ष्य करके, फेरफार करने का अधिकार किसी को नहीं है । ऐसा फेरफार कवि को अभिप्रेत भी नहीं हो सकता है । आराधकों को तो कवि के मूल शब्द को ही लेकर चलना चाहिए । व्यावहारिक रूप से जो लोग ऊपर न उठ सकें उनकी आराधना इतनी कच्ची समझी जायेगी । तदतिरिक्त कवि का

शब्द मनीषि का शब्द है; आर्षद्रष्टा का शब्द है । कवि को आम्र शब्द मालूम नहीं था इसलिए चूत शब्द प्रयोजित किया ऐसा नहीं है । कवि की वाणी से जो शब्द अनायास निकल पड़ा है और उनकी आत्मा की अतल गहराई में से आया है, सच्चे आराधकों को इसी मूल शब्द को ही वफ़ादारीपूर्वक लेना चाहिए । और शब्दपरक घृणा से चित्त को निवृत्त करके उत्तम अध्यवसाय में रमण करना चाहिए । वैदिकों के गायत्री मन्त्र में भी 'प्रचोदयात्' ऐसा एक शब्द आता है, जो आखिर के कुछ सदियों से अश्लील या बीभत्स शब्द के रूप में भी प्रयोग में है । फिर भी उस मंत्र में अब तक किसी पंडित ने फेरफार नहीं किया है । ऐसी अनधिकार चेष्टा कोई भी व्यक्ति करता है तो उसे मान लेना संभव नहीं^६ ।” हम इस मंतव्य से सर्वथा सहमत हैं । सभी श्वेताम्बर वृत्तिकारों ने 'चूत' शब्द ही ग्रहण किया है और कालिदास जैसे महान् कविवर ने अनेक स्थानों पर 'चूत' शब्द का प्रयोग किया है^७ ।

इस स्तोत्र की गुणवत्ता का विहंगावलोकन डा० ज्योतिप्रसाद जैन के शब्दों में यहाँ रखकर वह कैसे उत्पन्न हुई उस पर विचार करेंगे । “इस मनोमुग्धकारी स्तोत्ररत्न में परिष्कृत एवं सहजगम्य भाषा-प्रयोग, साहित्यिक-सुषमा, रचना की चारुता, निर्दोष काव्य-कला, उपयुक्त शब्दालङ्कारों एवं अर्थालंकारों की विच्छित्ति दर्शनीय है” । “यद्यपि मानतुंग ने क्लासिकल (classical) संस्कृत काव्य की अलंकृत शैली में रचना की है, तथापि उन्होंने स्वयं को ऐसी दुरूह काल्पनिक उड़ानों एवं शब्दिक प्रयोगों से बचाया है जिनमें काव्य का रस अलंकारों के जाल में ओझल हो जाता है^८ ।”

भक्तामर के देहसर्जन में प्रयुक्त अलंकारों से सम्बद्ध विचार ज्योतिप्रसाद जी से ४५ साल पूर्व, प्रा० कापड़िया ने अपनी गुजराती में लिखी प्रस्तावना के अन्तर्गत “स्तोत्र-युगलनुं तुलनात्मक पर्यालोचन” विभाग में किया है^९ । इसमें कल्याणमन्दिरस्तोत्र (जिसको वे सिद्धसेन दिवाकर विरचित मानते थे) के हर पद्य के संग भक्तामर के पद्यों की तुलना करते समय दोनों स्तोत्रों के आलंकारिक पहलुओं पर पर्याप्त विचार किया गया है । वहाँ उन्होंने संस्कृत साहित्य की सुविश्रुत कृतियाँ, जैसे कालिदास के कुमारसम्भव, रघुवंश, अभिज्ञान-शाकुन्तल और मालविकाग्निमित्र के पद्य एवं भर्तृहरिकृत नीतिशतक, माघ के शिशुपालवध, अमरूशतक, पुष्पदंत कृत शिवमहिम्नस्तोत्र, इत्यादि के समानालंकृत पद्य के साथ तुलना भी पेश की है । तदतिरिक्त स्तोत्रगत पदलालित्य, पदमाधुर्य, अनुप्रास की रम्यता, प्रसाद, कल्पना और चमत्कृति पर चर्चा करने के साथ ही वहाँ प्रयुक्त अलंकारों का भी जिक्र किया है, जैसे कि प्रतिवस्तूपमा, अनुमान, काव्यलिंग, व्यतिरेक, निन्दा-स्तुति, दृष्टान्त, शब्दानुप्रास इत्यादि ।

पं० अमृतलाल शास्त्री (१९६९) ने भी भक्तामरस्तोत्र की अलंकार-विच्छित्ति के विवरण में एक संक्षिप्त कंडिका में जो कुछ कहा है उसमें बहुत कुछ बता दिया है । उनके कथनानुसार स्तोत्र में शब्दालंकार के अन्तर्गत छेकानुप्रास एवं वृत्यानुप्रास की विच्छित्ति मनोहारिणी है । अर्थालंकारों में विषम, व्यतिरेक, पूर्णोपमा, रूपक, फलोत्प्रेक्षा, भ्रान्तिमान, क्वचित् श्लेष, अतिशयोक्ति, आक्षेप, दृष्टान्त, प्रतिवस्तूपमा और समासोक्ति आदि प्रयुक्त हैं; पर सर्वत्र जटिलता एवं दुर्बोधता का परिहार सहज रूप से दिखाई देता है^{१०} । (ज्योतिप्रसादजी की इस विषय पर हुई साधारण चर्चा का आधार अमृतलाल शास्त्री का उपर्युक्त लेखन रहा हो ऐसा आभास मिलता है^{११} ।)

उपर्युक्त दोनों विद्वानों के अतिरिक्त डा० रुद्रदेव त्रिपाठी ने भक्तामरस्तोत्र की काव्यशास्त्रीय समीक्षा बहुत ही गहराई से, प्रायः २१ पृष्ठ-प्रमाण की है, जिसमें से कुछ अंश यहाँ पेश करेंगे । स्तोत्र के “पद-पद में प्रासादिक भाषाप्रवाह, विचारों को संग्रह कर रखने वाली वर्णों की स्वाभाविक मैत्री, विषय-वस्तु को वास्तविक रूप में प्रस्तुत करने वाली वाक्ययोजना, अनिर्वचनीय रस परिपाक, रसानुभूति को आभासित कराने वाला संगीत, उपयुक्त छंद के संग शब्दों की मधुर झंझार एवं अर्थोज्ज्वलता को प्रत्यक्ष करने वाली वचन-भंगिमा से सभर अलंकार इस स्तोत्र की लोकप्रियता के संग ही काव्यरसिकों को भी रससिक्त कराने वाला है^{१०} ।” “शास्त्रकारों ने छन्द को काव्य का शरीर भी कहा है और इसलिए ही उपयुक्त छन्द के बिना भावों का उत्तम विकास नहीं हो सकता । ‘छदि’ धातु का अर्थ आह्लाद है और वह आह्लाद गणबद्ध वर्णसंयोजन, नियमित यति, वेग, विराम, चरण-विस्तार, वर्णमैत्री, सजातीयता, स्थानमैत्री, नादसौंदर्य, इत्यादि तत्त्व उत्तरोत्तर सुखानुभूति-रसानुभूति में सहायक बनता है । भक्तामरस्तोत्र में ये विशेषताएँ स्थान-स्थान पर देखने को मिलती हैं^{११} ।” (डा० त्रिपाठी ने स्तोत्र में से कुछ पद्य उदाहरण के रूप में वहाँ प्रस्तुत किया है ।)

स्तोत्र के अंतःभूत रस की मीमांसा भी डा० त्रिपाठी ने विस्तार से की है । इनका कहना है कि “स्तुतियों में देवादिविषयक रति होती है । वह रति निर्वेद-प्रधान होने से शम को स्थायी भाव में परिणत करके शांत रस का पोषण करती है^{१२} ।” इसलिए “ऐसे स्तोत्रों को भक्तिरस का काव्य भी कहा जा सकता है, क्योंकि प्राचीन आचार्य अनुराग को भक्तिरस का स्थायीभाव मानते हैं^{१३} ।” प्रबोध, विरक्ति, ध्यानजन्य तन्मयता, उदासीनता, परमात्मा के प्रति परम अनुरक्ति आदि कारणों से तथा श्रवण, कीर्तन, सेवन, अर्चन, आदि रतिभावना-प्रवर्तक उपांगों से दास्य अथवा आत्म-निवेदन स्वरूप रतिभाव के अंगों का परिपोषण हो जाने से यह स्तोत्र भी भक्तिरस का उत्तम उदाहरण है और अलौकिक गुण-सम्पन्न भगवान श्री ऋषभनाथ को सर्वस्व अर्पण करने वाली दृढ़ निष्ठा इसमें कारणभूत है^{१४} ।” यह विशिष्ट रतिभाव, परमात्मा के प्रति अनुरक्ति — “दूसरे शब्दों में ‘अहैतुकी भक्ति’ कहलाती है जो मानतुंग सूरी द्वारा अपने स्तोत्र में अभिव्यक्त हुई है^{१५} ।”

आगे चलकर डा० त्रिपाठी ने स्तोत्र में प्रयोजित अलंकार सम्बन्धी चर्चा की है । मानतुंग ने स्तोत्र में कहीं भी यमक का प्रयोग नहीं किया है, और इस विषय पर टिप्पणी करते हुए त्रिपाठी जी का कहना है कि मानतुंग भी आचार्य भामह की तरह यमक को “रस में गौण मानने वाले हों ऐसा लगता है^{१६} ।” “अलंकार के विषय में कोई खास क्रमबद्धता या किसी प्रकार के दुराग्रह का दर्शन स्तोत्र में कहीं नहीं देखने को मिलता^{१७} ।” “शब्दालंकार में सौ प्रथम अनुप्रास है जो वर्णमैत्री, स्थानमैत्री या अनुरणन के प्राधान्य से युक्त हैं । स्तोत्र का कोई भी पद्य अनुप्रास से रहित नहीं । स्थान-स्थान पर छेकानुप्रास या वृत्यानुप्रास तो है ही, जिसकी वर्णमैत्री एवं स्थानमैत्री से उत्पादित नादानुसंधान इसमें प्राण की जो आपूर्ति करता है, वह भी अद्भुत है^{१८} । (डा० त्रिपाठी ने इस कथन को सिद्ध करने के लिए स्तोत्र से कुछ उदाहरण दिए हैं । कहीं-कहीं श्लेषालंकार का आभास देने वाले शब्दों के दृष्टांत भी पेश किए हैं ।) आगे बढ़ते हुए त्रिपाठी जी का कहना है कि स्तोत्र में “वक्रोक्ति

का प्रयोग तो अधिकतर है ही । (पर) पुनरुक्तवदाभास भी कहीं-कहीं मिल जाता है । एक स्थान पर चित्रालंकार की भी रचना संभवित हो सकती है जिसके लिए छब्बीसवाँ पद्य-‘तुभ्यं नमस्त्रिभुवनार्तिहराय नाथ !’ -आदि संग्रहणीय है । इस पद्य को चतुर्दल कमलबंध, स्वस्तिकबंध, चतुर्-चक्रबन्ध, पुष्पबंध या वृक्षबन्ध आदि चित्रबंधों की आकृति में ढाला जा सकता है^{१९} ।” “इस तरह स्तोत्र के पद्यों से शब्द के दोनों धर्म—संगीतधर्म एवं चित्रधर्म—की सार्थकता सिद्ध होती है । इसके साथ ही भाषागत प्रयोग के वैशिष्ट्य से अर्थ को विचित्र ध्वनितरंग द्वारा दिया गया विस्तार तथा ‘कल्पान्तकाल पवनोद्धतनक्रचक्र’ जैसे पदों के प्रयोग से भाव प्रकाशन की स्वच्छन्दता एवं संगीतात्मक अभिव्यंजना सहज रूप से प्रकट हो गई है^{२०} ।” “अर्थालंकारों में ‘उपमा’ प्रमुख अलंकार है^{२१} ।” “इसलिए भक्तामरस्तोत्र में अन्य अर्थालंकारों की अपेक्षा उपमालंकार ने अधिक स्थान प्राप्त किया है । करीब बीस से अधिक पद्यों में आने वाले इस अलंकार को व्यक्त करने के लिए आचार्य जी ने दृष्टान्त, व्यतिरेक, प्रतिवस्तूपमा, अर्थापत्ति, व्याजस्तुति, काव्यलिंग, रूपक आदि अलंकारों का सहारा लिया है । इन सबों में अर्थान्तरन्यास विशेष प्रयुक्त हुआ है, जिससे ऐसा कह सकते हैं कि कालिदास की तरह यह अलंकार मानतुंगसूरि को भी प्रिय रहा है । उदाहरण के माध्यम से अपने कथनों की पुष्टि करने की काबीलियत श्री सूरि जी की तर्कशक्ति को व्यक्त करती है, तो उसके संग ही अपनी विनम्रता दिखाकर, आत्मप्रेरणापूर्वक, स्तुति में हुए प्रवर्तन उनकी जिनेश्वर के प्रति अहैतुकी भक्ति को सिद्ध करती है । ‘सामान्य’ के उपयोग से ‘विशेष’ का समर्थन, अंतःप्रेरित भाव, कौशलपूर्ण स्तुति, शब्दों का कलात्मक प्रयोग और वर्ण्य-वस्तु अथवा भावों को मूर्तरूप देने में अलंकारों की ओजपूर्ण अभिव्यक्ति श्री मानतुंगसूरि को काव्यकारों में, कविशिरोमणि के रूप में प्रतिष्ठित कर देती है^{२२} ।”

तत्पश्चात् त्रिपाठी जी ने स्तोत्र में उपलब्ध उपमाओं के मूलभूत तत्त्वों का विस्तार से विवरण दिया है । और उसके बाद उसके विशिष्ट पद्यों की पुष्पदन्त के महिम्नस्तोत्र से, कालिदास के रघुवंश एवं कुमारसंभव के साथ तथा मातृगुप्त की किसी अनुपलब्ध कृति के एक पद्य के साथ, अश्वघोष के सौन्दरनन्दकाव्य के पद्य के भाव से, और बाण के चंडीशतक एवं मयूर के सूर्यशतक के पद्यों से तुलना की है^{२३} । वस्तुतया डा० त्रिपाठी की समीक्षा में अनेक रसप्रद एवं उपयुक्त बातें समाविष्ट हैं, जो यहाँ स्थलसंकोच के कारण हमें छोड़ देनी पड़ी हैं ।

कवि मानतुंग की काव्य-प्रतिभा का पूर्ण दर्शन हमें उनकी विभूतियों एवं अष्ट महाभयों की अत्यन्त चारु और चित्रशील वर्णना में मिलता है । उन पद्यों में छन्दोलय भी पराकाष्ठा पर पहुँच गया है ।

मानतुंगाचार्य पूर्वाश्रम में वेदवादी रहे होंगे ऐसे कुछ संकेत स्तोत्र में यत्र-तत्र मिलते हैं । कापड़िया जी ने इस विषय में विशेषकर दो मुद्दों पर ध्यान खींचा था^{२४} । २१ वें पद्य में मानतुंगसूरि अपने हरि-हर लक्षित पूर्व दर्शन का उल्लेख करते हैं । यथा :

मन्ये वरं हरि-हरादय-एव दृष्टा ।
दृष्टेषु येषु हृदयं त्वयि तोषमेति ॥

इसके अतिरिक्त स्तोत्र के २३ वें पद्य में श्रुतिवाक्य का खंड समाविष्ट हुआ है ।

त्वामामनन्ति मुनयः परमं पुमांस-
मादित्यवर्णममलं तमसः परस्तात् ।

और यह उक्ति ऋग्वेद में आने वाले 'ॐ नम्रं सुधीरं दिग्वाससं ब्रह्मगर्भं सनातनं उपैमि वीरं पुरुषमर्हन्तमादित्य वर्णं तमसः परस्तात् स्वाहा ॥' तथा शुक्लयजुर्वेद (अ० ३१-१८) के 'पुरुषसूक्त' में मिलती है । यथा :

वेदाहमेतं पुरुषं महान्तम् आदित्यवर्णं तमसः परस्तात् ।
तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय ॥

श्रीमद्भगवद्गीता (अ० ८.९) में भी वह वाक्यांश प्राप्त होता है । यथा :

क विं पुराणमनुशासितारमणोरणीयांसमनुस्मरेद् यः ।
सर्वस्य धातारमचित्यरूप-मादित्यवर्णं तमसः परस्तात् ॥

(पं० अमृतलाल शास्त्री का कथन भी महदंशेन कापड़िया जी के कथन से मिलता-जुलता है)^{२५} ।

इस तथ्य के अतिरिक्त २६ वें पद्य में भी "कल्पान्तकालपवनोद्धतवह्निकल्पं," तथा १५ वें पद्य में भी "कल्पान्तकालमरुता चलिताऽचलेन" आता है । निग्रन्थ दर्शन में कालचक्र दर्शक 'कल्प' शब्द के स्थान पर विशेषकर 'आरा' या 'आरक' का प्रयोग होता है और सुख, समृद्धि, शील आदि की कालगति की दिशा एवं आरक के क्रमानुसार न्यूनाधिकता तो मानी है, लेकिन वहाँ पूर्णतया प्रलय की तो कल्पना नहीं है । यह भी स्तोत्रकर्ता मूलतः पुराणानुसारी ब्राह्मणधर्मी हों, ऐसी धारणा के प्रति ले जाता है; फिर भी श्रीयुत् धीरजलाल शाह का कहना इससे विरुद्ध है : "परन्तु इतना ध्यान में रखना चाहिए कि अन्य आचार्यों ने भी अपनी कृतियों में वेद-उपनिषद्-ब्राह्मणग्रंथ आदि के वाक्यों को गुम्फित किया है; फिर भी वे ब्राह्मणजाति में जन्मे हुए नहीं थे । जैसा कि कलिकालसर्वज्ञ श्री हेमचन्द्राचार्य, उपाध्याय श्री यशोविजयजी महाराज इत्यादि । तो भी इतनी बात तो निश्चित ही है कि श्रीमानतुंगसूरि महाविद्वान् थे । और उन्होंने जैनोपरान्त जैनेतर शास्त्रों का भी अध्ययन अच्छी तरह किया था, जिसका प्रतिबिम्ब इस स्तोत्र पर पड़ा है । इसके अतिरिक्त काव्यशक्ति भी उनको प्रारम्भ से ही वरित होगी, वर्ना ऐसा अद्भुत काव्य वे एकाएक कैसे रच सकते थे^{२६}।" धीरजलाल जी की पहली बात हमें प्रमाणभूत नहीं लगती । हेमचन्द्राचार्य एवं उपाध्याय यशोविजय जी वणिक जाति के थे यह बात सही है, पर वे भक्तामरकार से बहुत बाद में हुए हैं । हेमचन्द्र प्रायः पांच सौ साल बाद और यशोविजयजी तो करीब ग्यारह सौ साल पश्चात् । दोनों के सामने भक्तामरस्तोत्र रहा था और दोनों पर यदि सिद्धसेन दिवाकर और समन्तभद्र की कृतियों का प्रभाव पड़ सकता था तो क्या भक्तामर का नहीं, ऐसा हम कह सकते हैं ? आखिर भक्तामरस्तोत्रकार के समय की और आचार्य हेमचन्द्र तथा यशोविजय जी के समय की ऐतिहासिक एवं सामाजिक स्थिति के बीच काफ़ी अंतर हो चुका था । जहाँ समान भूमिका का अभाव ही है वहाँ दोनों को एक पल्ले में रखने के प्रयास से कोई फलदायी परिणाम नहीं निकल

सकता । मध्ययुग में गृहस्थपर्याय में वणिक ज्ञातियों में जन्म लेने वाले अनेकों मुनि अच्छे सारस्वत थे, इसके अनेकों प्रमाण उपलब्ध हैं ।

अब आखिर में स्तोत्र एवं स्तोत्रकार से सम्बद्ध एक-दो और तथ्यों का निर्देश देंगे । इतनी शालीन, शानदार और बेनमून ही नहीं, लोकोत्तर रचना होते हुए भी उसमें खटकने वाली एक बात पर भी ध्यान केन्द्रित करना जरूरी है । मानतुंग वेदमार्ग छोड़कर श्रमणमार्ग में आये थे; इसलिए उनमें कुछ हद तक कट्टरता भी आ गई होगी ऐसा लगता है । प्रा० कापड़िया ने यथार्थ ही भक्तामर के २०-२१ वें पद्य को “साम्प्रदायिक” घोषित किया है^{३७} । इनमें से २० वाँ पद्य इस प्रकार है-

ज्ञानं यथा त्वयि विभाति कृतावकाशं
नैवं तथा हरिहरादिषु नायकेषु ।
तेजः स्फुरन्मणिषु याति यथा महत्त्वं
नैवं तु काचशकले किरणाकुलेऽपि ॥

जिस जमाने में मानतुंग रहे होंगे, ऐसी साम्प्रदायिक स्पर्धा का वातावरण जरूर रहा होगा, था ही । आज तो ऐसे विभाव का परिवहन करने में लज्जा का ही अनुभव हो सकता है । मानतुंगाचार्य यूँ तो समन्वयवादी थे ऐसा पद्य संख्या २५-२६ से अनुमान होता है । यह देखते हुए उन्होंने यदि २० वाँ पद्य न बनाया होता तो स्तोत्र की गरिमा पूर्णरूपेण बनी रहती । यद्यपि भगवान् शंकर से सम्बद्ध पौराणिक कथनों में राग, रौद्रता और साकल्य की कल्पना की गई है, पर आध्यात्मिक दृष्टि से वे गुणातीत, मायारहित, निष्कल, “परमशिव” एवं “महेश्वर” भी माने गये हैं । ठीक इसी तरह विष्णु को भी एक तरफ लीलामय और दूसरी ओर लीलातीत माना गया है । जिनेन्द्र के वीतराग होने से उनकी प्रतिमा में केवल कर्मरहित निश्चल स्थिति की ही कल्पना की गई है । वहाँ प्रशमरस को ही स्थान मिला। किन्तु इस कारण को लेकर हरि-हर को नीचे दर्जे का मानना मुश्किल है । आखिर दार्शनिक दृष्टि से दोनों में बहुत अंतर होते हुए भी अनेकान्त दृष्टि से इनके अंतिम तात्त्विक विभाव में विशेष अंतर नहीं है ।

डा० रुद्रदेव त्रिपाठी ने इस संदर्भ में जो विचार रखा है वह यहाँ हम उन्हीं के शब्दों में प्रस्तुत करेंगे । “क्रमशः २०-२१-२३ और २४ वें पद्य में हरिहरादि देवों से भी प्रभु को श्रेष्ठ व्यक्त करने की शैली एकांत-भक्ति पर आश्रित है और वह सर्वव्यापी भी है । चंडीशतक में बाण कवि ने भी देवी को शिव, सूर्य, इन्द्र, चन्द्र, वायु, कुबेर आदि देवों से श्रेष्ठ रूप में अभिव्यक्त किया है । यथा :

विद्राणे रुद्रवृन्दे सवितरि तरले वज्रिणि ध्वस्तवज्रे,
जाताशङ्के शशाङ्के विरमति मरुति व्यक्तवैरे कुबेरे ।
वैकुण्ठे कुण्ठितास्त्रे महिषमतिरूपं पौरुषोपघ्ननिघ्नं,
निर्विघ्नं निघ्नती वः शमयतु दुरितं भूरिभावा भवानी ॥

मयूर कवि ने सूर्यशतक में सूर्य देव को (८८ वें पद्य में) सभी देवों से विशिष्ट दिखाया है ।

तदुपरान्त ९३ एवं ९४ संख्यावाले पद्यों में शिव, विष्णु, ब्रह्मा आदि देवों से महान् एवं महच्छील बताकर प्रशंसा की है^{२८} ।” यह कैफियत एक तरह से मानतुंगसूरि की साम्प्रदायिकता की तरफदारी में बचावनामा जरूर है, परन्तु हमें लगता है कि शाक्त एवं दूसरे वेद पंथी आखिर एक ही धर्म-संस्कार (ब्राह्मणीय पुराणमार्ग) के नाते जुड़े हुए थे, जबकि श्रमणमार्गी निर्ग्रन्थ उनसे भिन्न है और तत्त्वतः कुछ बातों में दूर भी पड़ जाता है । इसलिए ऊपर जो कुछ कह गये हैं उसकी यथार्थता, मुकम्मिलपन पर हम कायम हैं, और दृष्टिकोण को बदल देने का इस वक्त कोई ठोस कारण भी उपस्थित नहीं है ।

भक्तामरस्तोत्र की रचना काव्य-लक्षण की दृष्टि से तो सर्वांग-सरस है; पर उसमें कहीं-कहीं चरणान्त समास है, जो उसको कंठस्थ करने एवं उद्गान करने में कठिनाई का अनुभव कराता है । तन्त्री महाशय रमणलाल शाह ने इस विषय में विचार किया है, और इन उलझनों से निपटने की प्रक्रिया बताई है, जो वहाँ देख लेनी चाहिए^{२९} ।

टिप्पणियाँ :-

१. कटारिया, जै० नि० २०, पृ० ३३४-३३५.
२. कापड़िया, भक्तामर०, पृ० २७.
३. कटारिया, पृ० ३३६.
४. रमणलाल ची० शाह, “भक्तामर स्तोत्र - केटलाक प्रश्नो,” प्रबुद्ध जीवन, १६-४-८७, पृ० २०५.
५. मधुरवा परभृतिका भ्रमरी च विबुद्धचूतसंगिन्यौ ।

- मालविकाग्निमित्र, ४.२'

चूतेन संश्रितवती नवमालिकेयम्

अस्यामहं त्वयि च संप्रति वीतचिन्तः ।

- अभिज्ञान शाकुन्तल, ४.१२'

चूतानां चिरनिर्गतापि कलिका बध्नाति न स्वं रजः ।

- अभिज्ञान शाकुन्तल ६.४'

चूतप्रवालोल्लसलंचकार

- कुमारसंभव ३.३०'

चूताङ्कुरास्वाद कषायकण्ठः

- कुमारसंभव ३.३२'

निवपेः सहकारमञ्जरीः प्रियचूतप्रसवो हि ते सखा” ।

- कुमारसंभव ४.३८'

ये तीनों ग्रन्थ कालिदास-गन्धावली, सं० रेवाप्रसाद-द्विवेदी, वाराणसी १९८६ में संगृहित है, जिससे यहाँ उद्धृत किया गया है ।)

६. “प्रस्तावना,” सं०-भ०-२०, पृ० २७.

७. कापड़िया, "प्रस्तावना," भक्तामर०, पृ० १९-३१.
८. "प्रस्तावना," भ० स्तो०, पृ० १४-१५.
९. प्रस्तुत पुस्तिका उनके सामने रही ही थी ।
१०. "काव्य समीक्षा," भ० र० (गुजराती), पांचमो खंड, पृ० ३८८.
११. वही, पृ० ३९०.
१२. वही, पृ० ३९१.
१३. वही.
१४. वही, पृ० ३९१ और ३९२.
१५. वही, पृ० ३९४.
१६. वही.
१७. वही.
१८. वही.
१९. वही, पृ० ३९५
२०. वही.
२१. वही.
२२. वही, पृ० ३९६.
२३. यहाँ हम विन्टरनिट्स का कथन उद्धृत करेंगे :
- "*The Bhaktamāra-stotra* is an ornate poem, but not so elaborate, by a long way, as the hymns of Bara and Mayura" (— Cf. Maurice Winternitz, *A History of Indian Literature*, Vol-II, " *Buddhist and Jain Literature* ", Sec-ed, reprint, Delhi 1977, p-549)
२४. "भूमिका," भक्तामर०, पृ० ११, तदतिरिक्त देखिए पोपटलाल केवळचंद शाह, "भक्तामर स्तोत्र अने श्री मानतुंगाचार्य," जैनयुग, ४/१०, सं० १९८५ (ईस्वी १९२९), पृ० ४७९.
२५. "प्रस्तावना," भ० स्तो०, पृ० ७.
२६. "स्तोत्रकारनो सामान्य परिचय," भ० र०, पृ० ३८-३९.
२७. "स्तोत्रयुगलनुं तुलनात्मक पर्यालोचन," भक्तामर०, पृ० २६.
२८. "काव्य समीक्षा," भ० र०, पृ० ४०५.
२९. "भक्तामर स्तोत्र - केटलाक प्रश्नो," प्र० जी०, १६-४-८७, पृ० २०४.

भयहरस्तोत्र

श्वेताम्बर सम्प्रदाय में भक्तामरकार मानतुंगसूरि की द्वितीय कृति के रूप में २१ प्राकृत गाथाओं में निबद्ध भयहरस्तोत्र प्रसिद्ध है। खरतरगच्छ के “सप्तस्मरण” में, और तपागच्छ के “नवस्मरण” में भयहरस्तोत्र भी अन्य मशहूर स्तुति-स्तोत्रों के संग समाहित है। प्रभावकचरितकार प्रभाचन्द्र ने “मानतुंगचरित” में तथा गुणाकर सूरि ने अपनी वृत्ति में उसको मानतुंगाचार्य की ही कृति माना है^१। दिगम्बर सम्प्रदाय के साम्प्रतकालीन कुछ विद्वान् इस स्तोत्र को (वर्तमान श्वेताम्बर प्रकाशनों के माध्यम से) जानते तो हैं, पर उनके वहाँ परम्परा से उस स्तोत्र की प्रसिद्धि नहीं है, और इनमें से कुछ उसको भक्तामरकार की कृति नहीं मानते। इस विषय पर यहाँ आगे विचार किया जायेगा।

स्तोत्र की अन्तिम (२१वीं) गाथा में श्लेषमयी मुद्रारूपेण ‘मानतुंग’ नाम दृष्टिगोचर होता है^२, जैसा भक्तामरस्तोत्र में भी है। कुछ-कुछ प्रतियों में २३ या २५ की संख्या तक की गाथायें भी मिलती हैं; पर वह सब एक प्रकार से स्तोत्र की ही प्रशस्ति के रूप में, मध्यकाल के कुछ साधारण कवियों की बंधी हुई, दिखाई देती हैं। खंभात के शान्तिनाथ जैन भण्डार की ईस्वी १३वीं शती उत्तरार्ध की प्राचीनतम प्रति में, और प्रमाण में विशेष पुरानी टीकाओं में तो २१ ही गाथाएँ मिलती हैं। भक्तामर की तुलना में भयहरस्तोत्र की प्रतियाँ कम मिलती हैं और भक्तामर की तरह वह सर्वप्रिय भी नहीं है।

यह स्तोत्र जिन पार्श्वनाथ को उद्देशित है और उसमें कर्ता ने पार्श्वनाथ के गुणानुवाद पर इतना ध्यान नहीं दिया जितना उनके नाम के प्रभाव से अष्ट-महाभयों के निवारण पर। इस एकांगिता के कारण भक्तामरस्तोत्र के पास रखने से वस्तु की दृष्टि से उसका महत्त्व कुछ कम ही दिखाई देता है।

इस स्तोत्र पर यद्यपि भक्तामर के समान विपुल वृत्त्यात्मकादि परिकर साहित्य नहीं हुआ, फिर भी महाकवि मानतुंगाचार्य की कृति मानी जाने से उसका कुछ हद तक महत्त्व तो था ही। तदतिरिक्त मध्यकालीन श्वेताम्बर मुनिवरो की अष्ट-महाभयों के निवारक माने जाते स्तोत्रों के प्रति रुचि एवं आदर के कारण कुछ विवरणात्मक साहित्य तो बना ही है। इसमें खरतरगच्छीय जिनप्रभसूरि की सं० १३६५/ई० सं० १३०९ में साकेतपुर (अयोध्या) में बनाई हुई अभिधानचन्द्रिका अपरनाम अभिप्रायचन्द्रिका नामक वृत्ति, अज्ञात कर्ताओं की एवं अनजान काल की तीन अवचूर्णियाँ, एक मन्त्र-तन्त्रमय अवचूरि, खरतरगच्छीय समयसुन्दर सूरि की वृत्ति (ईस्वी १६ वीं शताब्दी), नागपुरीय तपागण के हर्षकीर्तिसूरि (ईस्वी १६ वीं शती अन्तभाग) और तपागच्छीय सिद्धिचन्द्र (प्रायः ईस्वी १७ वीं शती प्रथम चरण) की वृत्तियाँ प्रमुख हैं।

स्तोत्र की भाषा एवं संघटना-शैली प्राचीन दिखाई देती है, जैसे कि नन्दीषेण का अजितशान्तिस्तव (प्रायः ईस्वी ४७५-५००), द्वितीय पादलिप्तसूरि (सप्तम शती) की गाहाजुहलेण नामक ४ गाथायुक्त

संक्षिप्त रचना वीरस्तुति तथा अज्ञात कर्तृक उवसग्गहरथोत्त (प्रायः ९वीं-१०वीं शताब्दी) । भयहरस्तोत्र की कल्पना मूलतः संस्कृत में की गई हो और तत्पश्चात् प्राकृत में रूपान्तरित करके रख दिया हो, ऐसा कुछ भास होता है । आर्या-छन्द में निबद्ध गाथाओं में प्रवाह एवं मंजुलता है और उसकी संस्कृत छाया पढ़ने से मूल की प्राचीनता विशेष प्रामाणित होने के अतिरिक्त उसमें मृदंग के ध्वनिसदृश अनुरणनात्मक घोष सुनाई पड़ता है, जो मानतुंगाचार्य की निजी शैली की लाक्षणिकता है । प्राकृत से की गई संस्कृत छाया मूल छन्द का सर्वांश में, एवं अविकल, रूप तो हमेशा बता नहीं सकती; ऐसा सांगोपांग निर्वाह सम्भव भी नहीं है । पर वर्णविन्यास और शब्द-संकलना की चारुता एवं पदावली की सरसता तो इससे स्पष्ट हो ही सकती है । (यहाँ मूल पद्य के संग-संग उसकी संस्कृत छाया तुलनार्थ उपस्थित की गई है ।)

इस स्तोत्र में एक-एक महाभय का स्वरूप दो-दो गाथाओं द्वारा, अर्थात् चार-चार पदों में प्रकट किया गया है और बाद की दो उपसंहार-गाथाओं में पूरे ही अष्ट-महाभयों का नाम समाविष्ट कर दिया गया है । भक्तामरस्तोत्र में भी वसन्ततिलका-छन्द में अष्ट-महाभयों को चार-चार पद वाले आठ पद्यों में और इस के बाद आने वाले पद्य में आठों ही महाभयों को एकत्रित रूप में रख दिया है । यह खासियत भी दोनों के रचयिता एक ही कवि, अर्थात् प्राचीन 'मानतुंग' के होने का समर्थन करती है । जैसा कि हम आगे देखेंगे, महाभयों का उल्लेख कुछ और श्वेताम्बर रचनाओं में भी समाविष्ट है; लेकिन उनमें कहीं भी एक-एक भय को स्वतंत्र रूप से एक-एक पद्य में गुम्फित नहीं किया गया है । यह विशेषता भी उपर्युक्त दोनों स्तोत्र के कर्ता, एक ही होने की पुष्टि करती है ।

प्रा० कापड़िया ने इस स्तोत्र को सावचूरी प्रकट तो किया है^३, पर उस पर कोई प्रास्ताविक टिप्पणी या चर्चा नहीं की, यह आश्चर्य की बात है । ठीक इसी तरह मुनिप्रवर चतुरविजय जी ने भी इस स्तोत्र को मन्त्राम्नायवाली अवचूरि संग प्रकाशित किया^४, पर स्तोत्र सम्बद्ध कोई खास परामर्श नहीं दिया, और साराभाई नवाब ने इस स्तोत्र के विषय में जो कुछ कहा है, वह उनकी मन्त्र-तन्त्र के साहित्य पर रही अगाध प्रीति को सूचित करने के अलावा और कुछ नहीं है^५ ।

इस बारे में दिगम्बर विद्वानों ने जरूर कुछ कहा है, जो चिंतनीय है और कुछ हद तक तो चिन्ताजनक भी । अमृतलाल शास्त्री लिखते हैं : “..... भक्तामरस्तोत्र के अतिरिक्त आचार्य मानतुंग का प्राकृत भाषा में निबद्ध एक 'भयहरस्तोत्र' है । इस स्तोत्र के दूसरे पद्य से सत्रहवें पद्य तक क्रमशः दो-दो पद्यों में कुष्ठ, जल, अग्नि, सर्प, चोर, सिंह, गज और रण इन आठ भयों का उल्लेख है । 'मङ्गलवाणी' (पृ० १५८-१६३) में मुद्रित इस स्तोत्र के ऊपर 'नमिऊणस्तोत्र' अंकित है । इस नाम का कारण प्रारम्भ का 'नमिऊण' पद का होना है । उन्नीसवीं गाथा से इसका 'भयहर' नाम सिद्ध होता है । इक्कीसवीं गाथा में रचयिता का श्लिष्ट नाम भी दिया गया है^६ ।” “भयहरस्तोत्र मानतुंग दिवाकर की कृति है, न कि मानतुंग सूरि की । उनका उल्लेख आचार्य प्रभाचन्द्रसूरि ने 'मानतुङ्गप्रबन्ध' (श्लोक १६३) में किया है । इसी विषय में महान् विद्वान् कटारिया ने प्रकाश डाला है^७ ।”

कटारिया महोदय ने जो लिखा है वह पूर्णरूपेण इस प्रकार है : “प्राकृत में २३ गाथात्मक एक 'भयहरस्तोत्र' पाया जाता है, जो श्वेताम्बरों के यहाँ से 'जैनस्तोत्र-सन्दोह' द्वितीय भाग में प्रकाशित हुआ

है। इसे भी मानतुंग की ही कृति बतलायी जाती है, क्योंकि 'भक्तामर-स्तोत्र' की तरह इसके भी अन्तिम पद्य में (श्लेषात्मक) मानतुङ्ग शब्द पाया जाता है। 'भक्तामरस्तोत्र' में जिस तरह आठ भयों का वर्णन है, उसी तरह 'भयहर-स्तोत्र' में भी है। इसकी गाथा १७ में 'रण' भय के अन्तर्गत रिउणरिन्द (रिपुनरेन्द्र) शब्द पाया जाता है उनसे भक्तामरस्तोत्र के 'अरिभूपतीनां' शुद्ध पाठ का अच्छा समर्थन होता है।" कटारिया जी का यह कथन अमृतलाल जी का समर्थन करने के बजाय दोनों कृतियों के कर्ता के रूप में एक ही मानतुङ्गाचार्य होने का ही प्रतिपादन करता है। दूसरी ओर मानतुंग अभिधान धारण करने वाले पृथक् मुनियों की सूची देकर उनमें से पुराने साहित्य के सप्तम मानतुंग रूप में रख कर उनके बारे में स्वनामधन्य ज्योतिप्रसाद जी लिखते हैं : "(७) भयहर अपर नाम नमिऊणस्तोत्र (प्राकृत) के कर्ता। स्तोत्र पार्श्वनाथ की स्तुति रूप है और अन्तिम पद्य में मानतुंग की छाप है। जो पढ़े जो अ निसुणइ ताणं कइणो य माणतुंगस्स, इसे भक्तामरकार की ही कृति प्रायः मान लिया गया है। किन्तु यह अनुमान मात्र ही है।"९

भक्तामर के टीकाकार रुद्रपल्लीय गच्छ के गुणाकरसूरि (ईस्वी० १३७०) मानते थे कि भयहर के रचयिता भक्तामर वाले मानतुंग ही हैं। उनसे पहले भयहरस्तोत्र के आदि टीकाकार खरतरगच्छीय जिनप्रभसूरि (ईस्वी १३०८) का भी कुछ ऐसा ही कथन रहा है। उनसे भी कुछ ४१ वर्ष पूर्व राजगच्छीय प्रभाचन्द्र (ई० १२७७) का तो इस विषय में स्पष्ट विधान है कि वह भक्तामरस्तोत्रकार मानतुंग की ही रचना है और उन्होंने तो उसका सर्जन कैसे हुआ, इस सम्बन्ध में छोटी सी दन्तकथा भी दे दी है। यदि भयहरस्तोत्र भक्तामरकार का है ऐसा "अनुमानमात्र" हो तो वह अनुमान न केवल आधुनिक श्वेताम्बर एवं निर्ग्रन्थेतर विद्वानों का, वरन् मध्यकालीन श्वेताम्बर ग्रन्थकर्ताओं का भी है, जिन्होंने उनके सामने रहे आनुश्रुतिक वृत्तान्तों के आधार पर ऐसा लिखा होगा। कटारिया महोदय तो उसको भक्तामरस्तोत्रकार मानतुंग की ही रचना मानने के पक्ष में हैं, ऐसा स्पष्ट रूप से कहा जा सकता है। इस अनुलक्ष में उन्होंने एक प्रमाण अपनी ओर से उपस्थित भी किया जो हम ऊपर दुबारा देख आये हैं। इधर हम भी स्तोत्र की भाषा, शैली-लक्षण, संरचना तथा भक्तामर के अष्ट-महाभयों वाले पद्य के संग कुछ वैचारिक एवं वैधानिक समान्तरता, और स्तोत्र के अन्तरस्थ विशिष्ट छन्दोलय को देखकर उसको भक्तामरकार की कृति मानने में कोई बाधा-दुविधा का अनुभव नहीं करते। आखिर अनुगुप्तकाल में दो अलग-अलग मानतुंग इतनी समानता के संग विद्यमान थे ऐसा मानना कठिन है। ऐसा मानने के लिए कुछ ठोस ऐतिहासिक सबूत मिलना ज़रूरी है।

संस्कृत रूप में भयहरस्तोत्र कुछ हद तक कविराज मयूर की शैली का स्मरण कराता है, यह तथ्य भी स्तोत्र के प्राचीन होने का समर्थन करता है। श्वेताम्बर सम्प्रदाय में, मध्यकाल में मानतुंग अभिधान धारण करने वाले मुनि या आचार्य अनेक हो गये हैं; लेकिन ऐसा उच्च कोटि का स्तोत्र रचने का सामर्थ्य उनमें नहीं हो सकता, न ही वे ऐसी प्राचीन शैली में लिख सकते थे।

अब रही भयहरकार मानतुंग और कविराज राजशेखर कथित मातंग दिवाकर की सायुज्यति की बात, जिसका निर्गमन राजशेखर के निम्न पद्य पर निर्भर है। यथा :

“अहो प्रभावो वाग्देव्या यन्मातङ्गदिवाकरः ।
श्रीहर्षस्याभवत्सभ्यः समो बाणमयूरयोः ॥”

‘मातंग’ का ‘मानतुंग’ कर देने से राजशेखर के मूल पद्य में छन्दोभंग तो हो ही जाता है, पर ‘मातंग’ वहाँ जातिवाचक शब्द (स्मशानपाल चाण्डाल जैसी जाति) के रूप में विवक्षित है और ‘दिवाकर’ कवि का निजी अभिधान रहा है; वह ‘सिद्धसेन दिवाकर’ में है इस तरह बिरुद के रूप में नहीं है । यदि मानतुंग को ‘दिवाकर’ कहा जाय तो वहाँ वह उनका बिरुद बन जायेगा, जो किसी भी स्रोत से समर्थित नहीं । राजशेखर के समय में हर्ष की सभा के सदस्य माने जाने वाले ‘मातंग दिवाकर’ को भयहरस्तोत्रकार मानतुंग बताने के लिये न कोई प्रमाण है न कोई युक्ति । यह कोरी कल्पना मात्र है । हमें तो भक्तामरकार मानतुंग और भयहरकार मानतुंग एक ही व्यक्ति, एक ही कवि रहे हों, ऐसा दिखाई देता है । हाँ, श्वेताम्बर सम्प्रदाय में प्रचलित ३५ गाथा में निबद्ध भक्तिभरथोत्त अपर नाम ‘पञ्चपरमेष्ठिथोत्त’ के कर्ता मानतुंग, ऊपर कथित मानतुंग नहीं हो सकते^{१०} । यद्यपि १५वीं शती एवं बाद की श्वेताम्बर पट्टावलि (और भक्तामर के टीकाकार गुणाकर ने भी) यह स्तोत्र भक्तामरकार एवं भयहरकार मानतुंग का मान लिया है, परन्तु उनके पूर्वकालीन प्रभावकचरितकार ने मानतुंग की कृतियों में उसका उल्लेख नहीं किया है । वस्तुतया भक्तिभरथोत्त मध्यम कोटि की रचना है, और वह अनेक मध्यकालीन मुहावरों से, आदतों से, भरा पड़ा है । वह किसी अन्य, मध्यकालीन श्वेताम्बर मानतुंगसूरी की रचना है, जिसके बारे में आगे (परिशिष्ट में) कुछ गौर किया जायेगा ।

कापड़ियाजी ने किसी १७वीं शती की दिगम्बर पट्टावली के आधार पर ‘चिन्तामणिकल्प’ मानतुंगाचार्य का माना जाता है, ऐसा लिखा है; पर वह एक पूर्णरूपेण तान्त्रिक स्तोत्र है और कापड़िया जी भी कहते हैं कि वह मानतुंग का न होते हुए अतिरिक्त इसी नामधारी किसी अन्य मानतुंग के शिष्य धर्मघोष की रचना है^{११} । ये मानतुंग भी कोई मध्यकालीन श्वेताम्बर मुनि हैं, जिनके गच्छादि का भक्तिभरकार मानतुंग की तरह पता नहीं है ।

दिगम्बर सम्प्रदाय में उपसर्गहरस्तोत्र मानतुंग की रचना मानी जाती है । किन्तु उसमें कहीं भी मानतुंग की मुद्रा नहीं है । दूसरी ओर श्वेताम्बर सम्प्रदाय में वह आर्य भद्रबाहु की कृति मानी जाती है, वह भी भारी भ्रम है । न आर्य भद्रबाहु तान्त्रिक थे और न ही स्तोत्र की भाषा-शैली तीसरी शताब्दी ईसा पूर्व की है । स्व० मुनिवर पुण्यविजयजी ने मध्यकालीन श्वेताम्बर कथानकों के आधार पर इनको वराहमिहिर का भ्राता मानकर उपसर्गहरस्तोत्र के कर्ता एवं “द्वितीय भद्रबाहु” (ईस्वी छठी शती पूर्वार्ध) के रूप में रख दिया है । लेकिन भद्रबाहु का तो स्तोत्र में नामोनिशान नहीं है और स्तोत्र के प्रथम पद्य के आरम्भ में पार्श्व यक्ष का जो उल्लेख सन्निहित है वह उसको ८ वीं शताब्दी के बाद की ही रचना होने का प्रमाण देता है^{१२} । तीर्थकरो के यक्ष-यक्षियों का विभाव ईस्वी नवम-दशम शतक के पूर्व न तो कहीं साहित्य में उल्लिखित है^{१३}, न ही शिल्प-कंडार (Sculptural carving) में मिलता है । महाराष्ट्री-प्राकृत में पाँच गाथाओं में रची हुई यह कृति किसी मध्य-काल के आरम्भ के अज्ञात श्वेताम्बर कर्ता की है, जो नागविष और रोगादि साधारण संकट (दुष्ट ग्रह, महामारी, ज्वरादि) के निवारण के भाव

को लेकर बनाया गया है। श्रुताज्ञा-उत्थापक श्वेताम्बर चैत्यवासी साधुगण उस काल में ऐसी रचनाएँ करने में काफ़ी दिलचस्पी दिखाते थे। इस स्तोत्र पर की गई सभी प्राचीनतम टीकाएँ श्वेताम्बरों की रची हुई दिखाई देती हैं। दो भिन्न कर्त्ताओं की मन्त्राम्नाय वाली प्रायः १२वीं शताब्दी की टीकाएँ प्रकाशित भी हो चुकी हैं^{१४}।

टिप्पणियाँ :-

१. प्र० च०, पृ० ११७ : तथा कापड़िया, भक्तामर, पृ० ४.
२. कापड़िया, भक्तामर०, पृ० ५.
३. कापड़िया, भक्तामर०, पृ० २२५-२३६.
४. जैनस्तोत्रसन्दोहः, द्वितीयो विभागः, अहमदाबाद १९३६, पृ० १४-३०.
५. पूर्वाचार्य०, पृ० ८-१०.
६. भ० स्तो०, पृ० ९-१०.
७. वही, पृ० १०.
८. जै० नि० र०, पृ० ३३५.
९. स०-भ०-र०, पृ० ३५.
१०. इस मुद्दे पर यहाँ “परिशिष्ट” अंतर्गत ऊहापोह किया गया है।
११. मूल स्तोत्र के लिए देखिये “श्रीचिन्तामणिकल्प,” जैन स्तोत्र सन्दोह, भाग २, सं० मुनि चतुरविजय, अहमदाबाद १९३२, पृ० ३४.
१२. क़रीब एक दशक पूर्व प्रथम संपादक ने अपने वाराणसी स्थित मकान पर पं० मालवणिया जी को इस विषय पर अपना विचार दर्शाया था, और इसके आधार पर और स्तोत्र की शैली एवं वस्तु को देखकर उवसंगर नवम-दशम शतक पूर्व की कृति न होने का प्रमाण दिया था। उस मोके पर डा० सागरमल जैन भी उपस्थित थे। बाद में डा० जैन ने यह वस्तु अपने किसी प्रकाशन में निजी शोध के रूप में ली थी ऐसा स्मरण है।
१३. हमें ज्ञात है वहाँ तक तीर्थकरो के यक्ष-यक्षीओं का प्रथमोल्लेख तृतीय पादलिप्त सूरि कृत निर्वाककलिका (प्रायः ईस्वी १० शतक तृतीय पहर) अंतर्गत मिलता है, और शिल्प में उसका अंकन सर्व प्रथम देवगाढ़ के प्रायः ईस्वी ८७३ में बने मुख्य जिनालय में देखने को मिलता है।
१४. एक है श्रीचन्द्राचार्य की लघुवृत्ति : देखिए जैनस्तोत्रसन्दोहः प्रथमो भागः, अहमदाबाद १९३२, “ग-परिशिष्ट,” पृ० ६७-७६. और दूसरी है द्विज पार्श्वदेव विरचित लघुवृत्ति, जैन स्तोत्र सन्दोह, २, पृ० १-१३.

भक्तामर एवं भयहर के अष्टमहाभय

निर्ग्रन्थ दर्शन में अर्हत्, जिन, केवली एवं मुक्तात्मा-सिद्धात्मा को कषाय एवं वांछादि से परे माना गया है। इसी वजह से वे अनुग्रह करने के लिए या अभिशाप देने के लिए समर्थ नहीं हैं। इनके लिए “रोष” या “प्रसाद” संभव नहीं। इनका गुणानुवादयुक्त समुत्कीर्तन केवल अपनी मनःशुद्धि, चित्तविशुद्धि, आत्मशुद्धि एवं कुशल परिणाम के लिए ही किया जाता है, जिससे कर्मक्षय होता है, बोधिलाभ होता है, ऐसा सैद्धान्तिक-तार्किक दृष्टिकोण रहा है^१। यही कारण है कि वैदिक या पौराणिक देव-देवियों की स्तुति इत्यादि में जो सांसारिक सुखप्राप्ति और दुःखनिवारण से जुड़ी हुई कामना और याचना की जाती है, वह वस्तु प्राचीनतर निर्ग्रन्थ स्तवनों में प्रायः दृष्टिगोचर नहीं होती। परन्तु भक्तामरस्तोत्र के आठ काव्यों (३४-४१) में जिनेन्द्र के नामकीर्तन से अष्टप्रकार के महाभय दूर होते हैं, या उन पर काबू पाया जाता है, ऐसी वर्णना मिलती है^२। इसका समाधान इतना ही है कि वहाँ तीर्थंकर को कुछ करने के लिए बाध्य की जाने वाली प्रार्थना न होते हुए केवल उनके मंगलमय नामस्मरण के प्रभाव से, उनके पाद-पंकज के ध्यान मात्र से, भय का विलोप हो जाता है ऐसा कहा गया है, इतना ही माना गया है। वहाँ कहीं भी भय दूर करने की अभ्यर्थना नहीं की गयी है। इसलिए इस प्रकार की स्तुति निर्ग्रन्थ सिद्धान्त के प्रतिकूल नहीं है।

भक्तामर कथित ये आठ महाभय हैं—दुष्ट गज, हरिणाधिप (सिंह), दावानल, फणिधर, अरिराजसैन्य, तूफानी समंदर, जलोदर और लौहबन्धन। मानतुंगाचार्य की अन्य कृति भयहरस्तोत्र में कुछ क्रमभेद से और नामान्तर तथा प्रकारान्तर से, आठ में से छह भय तो वही हैं जो पूर्व कृति में हैं; परन्तु दो भय में फर्क है। यहाँ लौह-जंजीर के बन्धन के स्थान पर ‘अटवी’ दिया है और जलोदर के स्थान पर कुष्ठरोग, यथा—कुष्ठ महारोग, तूफानी समंदर, वनदाह, भुजंग, भिल्ल-तस्कर-पुलिंद-शार्दूल व्याप्त अटवी, कुपित सिंह, मदोन्मत्त हाथी और समर^३।

अष्ट-महाभय के सन्दर्भ में दिगम्बर विद्वद्-विभूतियों द्वारा कोई खास विचार नहीं किया गया है, न ही निर्ग्रन्थेतर विद्वानों ने इस विषय पर कोई टिप्पणी की है। श्वेताम्बर विद्वानों में भी केवल प्रा० कापड़िया ही अकेले विद्वान् हैं जिन्होंने अन्य रचनाओं में जहाँ-जहाँ उनको अष्ट महाभय विषयक सामग्री मिली, तुलनार्थ प्रस्तुत किया था, जो उपयुक्त होने से यहाँ उनकी प्रस्तावनाओं से ली जायेगी, और हमें जो चार-पाँच विशेष सन्दर्भ मिले हैं वे भी पेश किये जायेंगे।

कापड़िया जी ने सबसे पहले समवायांगसूत्र (वर्तमान संकलन ई० स० ३५३) के अन्तर्गत सप्तम समवाय में आने वाले सात ‘भयस्थानक’ की बात की है; वे भयस्थान इस प्रकार हैं—इहलोक, परलोक, आदान, अकस्मात्, आजीव, मरण और अपकीर्ति। मूलपाठ इस प्रकार है^४—

“सत्त भयट्टाणा पन्नता, तं जहा—इहलोगभए, परलोगभए, आदानभए, अकम्हाभए, आजीवभए (वा वेदनाभये), मरणभए, आसिलोगभए ।”

आगमकथित इन सप्तमहाभयस्थान से भक्तामर-भयहर कथित अष्ट-महाभय प्रायः भिन्न हैं और पीछली कृति में दिये गये सब विशेषतर लौकिक हैं ।

मानतुंगाचार्य के बाद भद्रकीर्ति सूरि के शारदास्तवन (प्रायः ईस्वी ७७५-८००) के नवम पद्य में श्रुतदेवता सरस्वती की उपासना से द्विरद (हाथी), केसरि (सिंह), मारि, भुजंग (साँप), असहन (शत्रु), तस्कर (चोर), राज (राजा-प्रेरित) और रोग का भय नहीं होता है^५ । यथा-

द्विरदकेसरिमारिभुजङ्गमा-
सहनतस्करराजरुजां भयम् ।
तवगुणावलिगानतरङ्गिणां
न भविनां भवति श्रुतदेवते ! ॥९॥

(यहाँ जिन के स्थान पर श्रुतदेवता है, शायद इसलिए कापड़िया जी ने यह उल्लेख छोड़ दिया हो ।)

नवमी शती में देखा जाय तो कृष्णर्षि के शिष्य जयसिंह सूरि का धर्मोपदेशमाला-विवरण (ई० स० ८५९) अंतर्गत अष्ट महाभय का नहीं किन्तु सप्तभयस्थान का उल्लेख हुआ है ।

रणे वने शत्रु-जलाग्नि मध्ये,
महार्णवे पर्वत मस्तके वा ।
सुप्तं प्रमत्तं विषय-स्थितं वा,
रक्षन्ति पुण्यानि पुराकृतानि ॥

और उसी काल का दूसरा एक और दृष्टान्त भी मिला है । निवृत्ति कुल के मानदेव सूरि-शिष्य शीलाचार्य के चउपन्न-महापुरिसचरिय (ईस्वी ८६९) अन्तर्गत “पाससामिचरिय” में देवेन्द्र द्वारा की गई स्तुति में भी महाभयों का उल्लेख हुआ है^६ । यथा :

इय हरि-करि-सिहि-फणि-चोर-(कार)-जलणिहि-पिसाय-रण-रोगं ।
ण णरस्स जायइ भयं तुह चलणपणामणिरयस्स ॥३३९॥

शीलाचार्य के पश्चात् शोभनमुनि की स्तुतिचतुर्विंशतिका (ईस्वी १०वीं का अन्त या ११वीं शती का आरंभ) में ८३वें पद्य में भी भयाष्टक उल्लिखित हैं^७, यथा-

जल व्याल व्याघ्र ज्वलनगजरुग् बन्धनयुधो ।
गुरूर्वाहोऽपातापदघन गरीया न सुमतः ।
कृतान्तस्त्रासिष्ट स्फुटविकट हेतु प्रमितभा-
गुरूर्वादोऽपाता पदघनगरीयानसुमतः ॥८३॥

यहाँ जल, व्याल (सर्प), व्याघ्र (शेर), ज्वलन (आग), गज, रोग, बन्धन और युद्ध इस प्रकार अष्ट-महाभय बताया गया है । इनमें से सात तो प्रायः मानतुंगाचार्य की कृतियों में मिलते हैं, लेकिन सिंघ की जगह शेर का जिक्र है जिसको प्रकारान्तर ही मानना ठीक होगा ।

श्वेताम्बर साहित्य में उपलब्ध एक प्राचीन प्राकृत उक्ति में जिन को किये गये नमस्कार से तत्क्षण दूर होने वाले अष्टभय की इस प्रकार गिनती की गई है । व्याधि (रोग), जल, आग, हरि (सिंह), हाथी, चोर, युद्ध और सर्प^{१८} । यथा :

वाहि-जल-जलण-हरि-करि-तक्कर-संगाम-विसहर-भयाइं ।
नासंति तक्खणेणं जिणनवकारप्पभावेण ॥

मानदेवसूरि के प्रसिद्ध लघुशान्तिस्तव (प्रायः ईस्वी ११वीं शती तृतीय चरण) में भी महाभयों का उल्लेख करने वाला पद्य है^{१९} । यथा :

सलिलाऽनल-विष-विषधर-दुष्टग्रह-राजरोगरणभयतः ।
राक्षस-रिपुगणमारी-चौरैतिश्चापदादिभ्यः ॥

यहाँ आठ के स्थान पर प्रायः द्वादश भय गिनाया गया है । यथा : जल, अग्नि, विष, सर्प, दुष्टग्रह, राजरोग (क्षय), रण (युद्ध), राक्षस, रिपुगण, महामारी, चोर और श्वापद (सिंह, बाघ आदि) ।

मानदेवसूरि के कुछ ही दशक बाद खरतरगच्छीय जिनवल्लभसूरि के प्राकृत में निबद्ध अजितशान्तिस्तव (प्रायः ईस्वी १०७५-११९०) में भी आठ विशेष भयों का उल्लेख है^{२०} । सन्दर्भगत दोनों जिनों के कीर्तन प्रभाव से उनके शमन की बात कही गई है ।

अरि करि हरि ति णुपहं पुचो राहीवादी समरऽमरमारी रुद्ध खुद्दोपसगा ।
पलयमजियसंती कित्तणे ज्जत्ति जंती निविडतरमोहा भक्खरालुंखि अब्ब ॥

उपरोक्त जिनवल्लभसूरि के शिष्य जिनदत्तसूरि के ललितसुन्दर अजितशान्तिस्तवन (प्रायः ईस्वी ११२५) के अष्टम पद्य में भी अनेक प्रकार के भय का प्राकट्य जिनद्वय की स्तुति से नहीं होता है, ऐसा कहा गया है^{२१} । यथा :

तृष्णोष्णे न पयो न मारिरपि न द्वीपी न दन्ती च नो
सिंहो न ज्वलनो न पन्नगभवा भीतिर्न भूतास्तु न ।
शाकिन्यो न विनायका न तु विषं नारातयो नाजयो
न क्षेत्राधिपगोत्रपाः प्रतिभयं कुर्वन्ति तोस्तौति (तौ स्तौति) यः ॥

ठीक इसी तरह अज्ञात कर्ता के अद्यावधि अप्रकट आदिनाथमहाप्रभावकस्तवन (प्रायः ईस्वी १२वीं शती) के ३४ वें पद्य में भी अनेक भयों का नाश पञ्चपरमेष्ठि पदों को रटने से हो जाता है^{२२} । यथा :

सङ्ग्रामसागरकस्करीन्द्र भुजंग सिंह -
दुर्व्याधिवह्निरिपुबन्धन संभवानि ।
चौरग्रहभ्रमनिशाचरशाकिनीनां
नश्यन्ति पञ्चपरमेष्ठिपदैर्भयानि ॥

परन्तु अज्ञातगच्छीय अजितसिंहसूरिकृत पार्श्वस्तोत्र (प्रायः १२ वीं शताब्दी) के पाँचवें पद्य में आठ ही भय का उल्लेख है^{१३} ।

रिपुचोरमहीपाल-शाकिनी भूत सम्भवाम् ।
अरण्यं देहिजां भीतिं हन्ति बद्धभुजादिषु ॥

इसके अलावा अज्ञात श्वेताम्बरकर्ता के प्राकृत में निबद्ध अर्णहास्तोत्र (शायद ईस्वी १२वीं शती) में चोर, सावज (श्वापद,सिंहादि), सर्प, जल, आग, शतबन्धन, राक्षस, रण और राजभय इस प्रकार नौ भयों का उल्लेख है^{१४} । यथा :

नासेइ चोर सावय विसहर जल जलण बंधण सयाइं ।
चिंतिजंतो रक्खस रण रायभयाइं भावेण ॥

कुलप्रभसूरि का मन्त्राधिराजकल्प (प्रायः ईस्वी १२००-१२२५) में भी महाभय का निवारण (पार्श्वनाथ के नामस्मरण से) हो जाता है ऐसा कहा गया है^{१५} ।

नारिर्न हरिर्न करी नाहिर्नाग्निर्न सागरो न गदः ।
न क्ष्मापतिर्न दस्युर्न रुजा नाकालमरणमपि ॥७॥
तस्य भयाय प्रभवति हृदये जागर्ति यस्य पार्श्वेशः ।
पवनेरिताम्बुदा इव किन्त्वेते झटिति विघटन्ते ॥८॥

तपागच्छीय धर्मकीर्तिगणि (पश्चात् धर्मघोषसूरि) कृत प्राकृत-निबद्ध शत्रुंजयकल्प (प्रायः ईस्वी १२६४) के ३७ वें पद्य में प्रस्तुत तीर्थ की संस्तवना से नष्ट होने वाले जल, अग्नि, जलधि, रण, वन, हरि, करि, विष और विषधर इस तरह आठ दुष्ट भय गिनाये हैं^{१६} । यथा :

जल जलण जलहि रण वण हरि करि विस विसधराइ दुष्टभयं ।
नासइ जं नाम सुई तं सित्तुंजयमहातित्थं ॥३७॥

अलावा इसके अंचलगच्छीय महेन्द्रसूरि (ईस्वी १३वीं शताब्दी तृतीय-चतुर्थ चरण) के संस्कृत भाषा निबद्ध जीरापल्ली-पार्श्वस्तोत्र में काव्यमय भाषा में अनेक भयों का निर्देश किया गया है^{१७} । यथा :

गराध्मातदर्पाः प्रसर्पन्ति सर्पा, न मर्माविधो भूभुजां वाऽपसर्पाः ।
निबद्धावनीविग्रहाः कुग्रहा वा, धनोच्छृङ्खला नो खला दुष्टभावाः ॥

स्फुटं चौरिका वृत्ति शूरा न चौराः, क्षुधाग्रस्तलोकाः समानापिशैरा ।
यमस्येव दूताः प्रभूता न भूता, न देहेऽपि रोगाश्चिरं वाऽनुभूताः ॥
मदोन्मत्तकोपोद्भुराः सिन्धुरा वा, न च व्याघ्रसिंहा महाघोररावाः ।
न दावानला भूरिजिह्वाःकराला, न वाऽऽत्तङ्कदा वार्द्धिकल्लोलमालाः ॥
महाकोपकामानला भूमिपालाः सशस्त्रा न योधाः कलौ भीमपालाः ।
पुरस्तस्य पीडाहराः शुद्धवर्णा, विभो ! येन जप्ता भवन्नामवर्णाः ॥

महाभय के विषय में प्रा० कापड़िया ने उत्तर-मध्यकाल की भी अनेक श्वेताम्बर कृतियों का सोद्धरण उल्लेख किया है । वह प्रमाण में अर्वाचीन होने से यहाँ उनमें से पूरे उद्धरण न देकर कर्ता, स्तोत्र एवं रचनाकाल के बारे में बताकर छोड़ देंगे । इनमें जिनप्रभसूरि का पञ्चपरमेष्टिस्तोत्र (प्रायः ईस्वी १३००-१३२५) आञ्चलिक मेरुतुंगाचार्य का पार्श्वस्तोत्र (प्रायः ईस्वी १४वीं शताब्दी चतुर्थ चरण), अज्ञातकर्तृक पार्श्वस्तोत्र (शायद १५वीं शताब्दी), तपागच्छीय मुनिसुंदरसूरि कृत अध्यात्मकल्पद्रुम (ईस्वी १५वीं शताब्दी प्रथम चरण), तपागच्छीय रत्नमंदिरगणि कृत उपदेशतरंगिणी (१५वीं शती तृतीय चरण) और लोंकागच्छीय खेमकर्ण का गुजराती भाषा में रचा गया पार्श्वनाथछन्द (प्रायः १७वीं शताब्दी) इत्यादि । इनमें से उपदेशतरंगिणी में १४ और अध्यात्मकल्पद्रुम में १६ भयों का उल्लेख है^{१८} । (इसके अलावा खंडिल्लगच्छीय भावदेव के पार्श्वनाथचरित (ईस्वी १३५५) में भी अष्टभयनिवारण का भयों के नाम समेत उल्लेख अभी-अभी हमारे देखने में आया है^{१९} ।)

इन लौकिक भयों का तीर्थकर के (भावपूर्वक किये गये) नामस्मरण मात्र से हो जाने वाले विलोपन की विभावना असल में मानतुंगाचार्य से भी पुरातन है और निर्ग्रन्थ स्तोत्र-साहित्य में उसका सबसे प्राचीन एवं महत्त्वपूर्ण उल्लेख सिद्धसेन दिवाकर की परात्माद्वात्रिंशिका (द्वात्रिंशिका क्रमांक २१) के अन्तर्गत मिलता है । और यह उल्लेख कापड़ियाजी ने नहीं किया है । भुजंगप्रयात-वृत्त में निबद्ध स्तुति में वहाँ यह २५वाँ पद्य है^{२०} ।

कलि व्याल वह्नि ग्रह व्याधि चौर
व्यथा वारण-व्याघ्र-विध्यादिविघ्नाः ।
यदाज्ञा जुषां युग्मिनां जातु न स्युः
स एकः परात्मा गतिर्मे जिनेन्द्रः ॥

इससे सिद्ध होता है कि सिद्धसेन जैसे दार्शनिक कवि भी भक्तिभाववेश में आकर, लिखते थे तो अष्ट महाभय जैसी लौकिक भावना को भी सुग्रथित वर्णमैत्री, सुरम्य प्रासानुप्रास-अन्तरप्रासादि घोषात्मक एवं स्फोट्यात्मक शब्दावली के बन्ध में गुम्फित कर देते थे ।

ऊपर की चर्चा का निष्कर्ष यह है कि महाभयों की संख्या प्रारंभ में आठ ही रही थी, बाद में उसमें क्रमशः वर्धन होता रहा है । अष्ट-महाभयों के समूह में विविध रचनाओं में भी अधिकतर भय समान, तो कुछ भिन्न भी थे । मानतुंगाचार्य के सामने सिद्धसेन वाली अष्ट-महाभयों की परंपरा न होकर

कोई दूसरी ही रही है और बाद वालों ने इन दोनों के आधार से अतिरिक्त अपने-अपने समय में प्रचलित भयों का आभिधानिक रूप समाविष्ट किया । (यदि हम वर्तमान में उपस्थित भयों की गिनती करने का प्रयास करें तो कई बीसों में वह संख्या बन सकती है ।)

कापड़िया जी ने यद्यपि कोई चर्चा अष्टमहाभय और उससे तारण की कल्पना के विषय में नहीं की है, फिर भी सोचा जाय तो प्रथम दृष्टि से ही वह निर्ग्रन्थ-दर्शन के अन्तर्गत हुई हो, ऐसा प्रतीत नहीं होता । उत्तर की परम्परा के आगमों में तो क्या, वृत्त्यादि एवं आगमिक चूर्णि साहित्य में भी उसका कहीं उल्लेख नहीं है । दाक्षिणात्य परिपाटी के आगमस्थानीय या आगमतुल्य साहित्य, धवला (प्रायः ईस्वी ८१६), जयधवला (प्रायः ईस्वी ८३७) जैसी महती टीकाओं, हरिवंशपुराण (ईस्वी ७८८), आदिपुराण (ईस्वी ८३७ पश्चात्) तथा उत्तरपुराण (ईस्वी ८५० बाद) जैसे प्राचीन पुराणों में भी नहीं । न ही कोई उल्लेख वरांगचरित (ईस्वी ७वीं शती) में और बाद की महत्वपूर्ण चरितात्मक रचनाओं में मिलता है । इसका स्रोत या तो कोई ब्राह्मणीय या बौद्ध ही हो सकता है ।

महायानिक सम्प्रदायों में बोधिसत्त्व को महाकरुणानिधान माना गया है और ईस्वी तीसरी-चौथी शताब्दी में उनके 'अवलोकितेश्वर' नामक स्वरूप की कल्पना की गई है, जिसका सम्पूर्ण प्रमाण प्रायः ईस्वी पंचम शती के आखिरी प्रहर में खोदे गये अजन्ता के लयनमन्दिरों में और तत्पश्चात् अनुवाकाटक युग के कृष्णगिरि (कन्हेरी), एलापुर (इलोरा) एवं औरंगाबाद के ऐसे ही गुहा-मन्दिरों में और उसके बाद पूर्व भारत में कलिंग देश एवं बंग-मगध के मध्यकाल के शिल्पों में बहुतायत है^{२९} । इनमें से कुछ ऐसे हैं जो अष्टमहाभयत्राण के प्रसंगचित्रों से परिवृत्त हैं । महायान परम्परा का प्रसिद्ध ग्रन्थ सद्धर्मपुण्डरीक ही शायद ऐसा प्रथम ग्रन्थ है, जहाँ अवलोकितेश्वर के नामस्मरण मात्र से नष्ट होने वाले प्रायः द्वादश भयों के बारे में स्तुत्यात्मक पद्य कुछ अपने ही ढंग की संस्कृत भाषा में बनाये गये हैं^{३०} । यथा :

सचि अत्रिखदाय पातयेत् घतनार्थाय प्रदुष्टमानसः ।

स्मरतो अवलोकितेश्वरं अभिषिक्तो इव अग्नि शाम्यति ॥५॥

सचि सागरदुर्गि पातयेन्नागमकरसुरभूत आलये ।

स्मरतो अवलोकितेश्वरं जलराजे न कदापि सीदती ॥६॥

सचि मेरुतलातु पातयेद् घतनार्थाय प्रदुष्टमानसः ।

स्मरतो अवलोकितेश्वरं सूर्यभूतो व नभे प्रतिष्ठति ॥७॥

वज्रामय पर्वतो यदि घतनार्थाय हि मूर्ध्नि ओषरेत् ।

स्मरतो अवलोकितेश्वरं रोमकूप न प्रभोन्ति हिंसितुम् ॥८॥

सचि शत्रुगणैः परीवृतः शस्त्रहस्तैर्विहिंसचेतसैः ।

स्मरतो अवलोकितेश्वरं मैत्रचित्र तद् भोन्ति तत्क्षणम् ॥९॥

सचि आघतने उपस्थितो वध्यघातन वशंगतो भवेत् ।

स्मरतो अवलोकितेश्वरं खण्डखण्ड तद् शस्त्र गच्छियुः ॥१०॥

सचि दारुमयैरयोमयैर्हडिनिगडैरिह बद्ध बन्धनैः ।
 स्मरतो अवलोकितेश्वरं क्षिप्रमेव विपटन्ति बन्धना ॥११॥
 मन्त्रावलविद्य औषधी भूतवेताल शरीरनाशका ।
 स्मरतो अवलोकितेश्वरं तान् गच्छन्ति यतः प्रवर्तिता ॥१२॥
 सचि ओजिहरैः परीवृतो नागयक्षसुरभूतराक्षसैः ।
 स्मरतो अवलोकितेश्वरं रोमकूप न प्रभोन्ति हिंसितुम् ॥१३॥
 सचि व्याडमृगैः परीवृतस्तीक्ष्ण दंष्ट्रनखरैर्महाभयैः ।
 स्मरतो अवलोकितेश्वरं क्षिप्र गच्छन्ति दिशा अनन्ततः ॥१४॥
 सचि दृष्टिविषैः परीवृतो ज्वलनार्चिशिखिदुष्टदारुणैः ।
 स्मरतो अवलोकितेश्वरं क्षिप्रमेव ते भोन्ति निर्विषाः ॥१५॥
 गम्भीर सविघ्न निश्चरी मेघवज्राशनि वारिप्रस्रवाः ।
 स्मरतो अवलोकितेश्वरं क्षिप्रमेव प्रशमन्ति तत्क्षणम् ॥१६॥

(बौद्ध साहित्य के विद्वानों ने इस पाठ का समय ईस्वी तीसरी-चौथी शताब्दी के बाद का नहीं माना है ।)

अवलोकितेश्वर अतिरिक्त महायानिक सम्प्रदाय में तारा भगवती की अष्टभय से मुक्त कराने वाली शक्ति के रूप में स्तुति एवं साधना की जाती है, और अवलोकितेश्वर की तरह उनका भी महाभयतारिणी के रूप में प्राचीन शिल्पो में अंकन हुआ है^{२३} । देवी तारा को सम्बोधित अनेक स्तोत्रों में कश्मीर के बौद्ध कवि एवं साधक सर्वज्ञमित्र का स्रग्धरास्तोत्र (प्रायः ८वीं शती पूर्वार्ध) बहुत ही प्रसिद्ध है । धारावाही, शक्तिपूत और परम तेजस्वी इस स्तोत्र के अष्टमहाभयत्राण-सम्बद्ध पद्यों को यहाँ पेश करेंगे^{२४} ।

कल्पान्तोद्भ्रान्तवातभ्रमितजलचललोलकलोल हेला ।
 संक्षोभोत्क्षिप्तवेलातटविकटचटत् स्फोटमोदटाडहासात् ।
 मज्जद्विभिन्ननौकैः सकरुणरुदिता क्रन्दनिष्पन्द मन्दैः ।
 स्वच्छन्दं देवि सद्यस्त्वदभिनुतिपरैस्तीरमुत्तीर्यतेऽब्धेः ॥१०॥

धूम्रभ्रान्ताभ्रगर्भोद्भवगगन गृहोत्सङ्गरिङ्गत्स्फुलिङ्ग ।
 स्फूर्जज्ज्वालाकरालज्वलनजवविशद्वेश्मविश्रान्तशय्याः ।
 त्वय्याबद्धप्रणामाञ्जलिपुटमुकुटा गद्गदोद्गीतयाञ्जाः ।
 प्रोद्यद्विद्युद्विलासोज्ज्वलजलदजवैराश्रियन्ते क्षणेन ॥११॥

दानाम्भः पूर्यमाणोभयकटकटकालम्बिरोलम्बमाला ।
 हृङ्काराहूयमान प्रतिगजजनित द्वेषवहोद्विपस्य ।

दन्तान्तोत्तुङ्गदोलातलतुलिततनुस्त्वामनुस्मृत्य मृत्युं ।
 प्रत्याचष्टे प्रहृष्टः पृथुशिखरशिरः कोटिकोटोपविष्टः ॥१२॥

प्रौढप्रासप्रहारप्रहतनरशिरः शूलवल्ल्युत्सवायां ।
 शून्याटव्यां करग्रग्रहविलसदसि स्फेटकस्फीतदर्पान् ।
 दस्यून् दास्ये नियुङ्क्ते समृकुटि कुटिल भ्रूकटाक्षेक्षिताक्षाँ ।
 श्चिन्तालेखन्यखित्रस्फुटलिखितपदं नाम धामश्रियां ते ॥१३॥

वज्रकूरप्रहारप्रखरनखमुखोत्खातमत्तेभकुम्भ ।
 श्च्योतत्सान्द्रास्रधौतस्फुटविकटसटासङ्कटस्कन्धसन्धिः ।
 क्रध्यत्रापित्सुरारादुपरि मृगरिपुस्तीक्ष्णदंष्ट्रोत्कटास्य ।
 स्रस्यत्रावृत्य याति त्वदुचितरचितस्तोत्रदिग्धार्थवाचः ॥१४॥

धूमावर्तान्धकाराकृतिविकृतफणिस्कार फूत्कारपूर ।
 व्यापारव्याप्तवक्त्रस्फुर दुरुरसनारज्जुकीनाश पाशैः ।
 पापात्संभूय भूयस्तव गुणगणना तत्परस्त्वत्परात्मा ।
 धत्ते मत्तालिमालावलयकुवलयस्रग्विभूषां विभूतिम् ॥१५॥

भर्तुर्भूभेदभीतोद्भटकटकभटाकृष्टदुःश्लिष्ट केश-
 श्चञ्चद्वाचाटचेटोत्कटरटितकटुग्रन्थिपाशोपगूढः ।
 क्षुत्तृट्क्षामोपकण्ठस्त्यजति स सपदि व्यापदं तां दुरन्तां
 यो यायादार्यतारा चरणशरणतां स्निग्धबन्धुज्झितोऽपि ॥१६॥

मायानिर्माणकर्मक्रमकृतविकृतानेकनेपथ्यमिश्या
 रूपारम्भानुरूपप्रहरणकिरणाडम्बरोड्डामराणि ।
 त्वत्तन्त्रोद्धार्यमन्त्रस्मृतिहृतदुरितस्यावहृत्य प्रदृष्यां
 प्रेतप्रोतान्त्रतन्त्री निचयविरचितस्रज्जि रक्षांसि रक्षाम् ॥१७॥

पौराणिक दर्शन में भी अष्ट-महाभयों से रक्षा की भावना व्यक्त करने वाले कुछ स्तोत्र हैं । मार्कण्डेयपुराण के “देवीमाहात्म्य” खण्ड (प्रायः ईस्वी छठीं शती) में से ऐसा एक पद्य-समूह उल्लेखनीय है^{२५} -

अरण्ये प्रान्तरे वापि दावाग्नि परिवारितः ।
 दस्युभिर्वा वृतः शून्ये गृहितो वापि शत्रुभिः ॥
 सिंह व्याघ्रानुयातो वा वने वा वनहस्तिभिः ।
 राज्ञाक्रुद्धेन चाज्ञप्तो वध्यो बन्धगतोऽपि वा ॥
 आघुर्णितो वा वातेन स्थितः पोते महार्णवे ।
 पतत्सु वापि शस्त्रेषु संग्रामे भृशदारुणे ॥

सर्ववाधासु घोरासु वेदनाभ्यर्दितोऽपि वा ।
स्मरणममैतच्चरितं नरो मुच्येत संकटात् ॥

- मा० पु०, दे० मा०, “उत्तर चरित्रं,” १२.२६-२९

कापड़िया जी ने अज्ञात शैव कर्ता के शिवकवचस्तोत्र (शायद प्राकृमध्यकालीन या अनुगुप्तकालीन) में से भय-निवारण के विषय को लेकर एक पद्य उद्धृत किया है^{२६} । यथा :

निहन्त दस्यून प्रलयानलार्चिर्ज्वल त्रिशूलं त्रिपुरान्तकस्य ।
शार्दूलसिंहर्क्षवृकादिहिंस्रान् सन्नासयन्त वीराधनुः पिनाकः ॥

- शिवकवच-२८

विशेष खोज करने से पौराणिकादि वाङ्मय में से ऐसे और भी पद्य, दण्डक या कंडिकाओं का मिल जाना संभव है ।

तारा को अष्ट-महाभयों से त्राण करने वाली शक्ति मानने के पीछे ऊपर कथित “देवीमाहात्म्य” का प्रभाव होगा या नहीं, कहना मुश्किल है । लेकिन भद्रकीर्ति के शारदास्तवन में सरस्वती को अष्ट प्रकार की भीती से मुक्त कराने वाली शक्ति के रूप में बताया गया है, उसके पीछे इन दोनों में से किसी एक परम्परा का प्रभाव रहा हो ऐसा संभवित है ।

ऐसा लगता है कि बौद्धों के या पुराणमार्गी ब्राह्मणीय परंपरा के अथवा इन दोनों के परिचय से उत्तर की मुख्य निर्ग्रन्थ-धारा में स्तुति-स्तोत्रादि में जिनेन्द्र का नाम अष्ट-महाभय निवारक है, ऐसी कल्पना को भी स्वीकार किया गया । सार्थवाहों को यात्रा के दरमियान अपने सार्थों की सलामती की बहुत चिन्ता रहती थी । ऐसी स्थिति में उन युगों में देवसहाय की आवश्यकता अपने आप संभवित बन गई होगी । कुछ मानवीय स्तर के रक्षा-प्रबन्ध तो अवश्य रहे होंगे, फिर भी ऐसे भयाकुल यात्रा-प्रवासों में उपद्रवों, संकटों, के शमन के लिए उस युग में देवप्रार्थना और उस पर अनन्य श्रद्धा के सिवा और कोई तरणोपाय भी शायद नहीं रहा होगा ।

टिप्पणियाँ :-

१. सिद्धात्मा को ईश्वर की तरह कर्तारूप में नहीं माना गया । वह केवल ज्ञाता, द्रष्टा ही है ।
२. बाद के, मध्यकाल में कभी कभी, उपचार से, जिन देवता संकट को दूर करता है ऐसा उल्लेख मिल जाता है ।
३. यहाँ इस सम्बद्ध में भयहरस्तोत्र के पद्य १०-१७ देख सकते हैं ।
४. ठाणंगसुत्तं समवायांग सुत्तं य, जैन आगम ग्रन्थमाळा, गन्थाङ्क ३, सं० मुनि जम्बूविजय, मुंबई १९८५, सूत्र ५४९, पृ० २२४. (अन्य आवृत्तियों में पंचम भयस्थान में भिन्नता दिखाई देती है ।)
५. ही० २० कापड़िया, चतुर्विंशतिका, आगमोदय समिति, मुंबई १९२६, पृ० १८३.
६. प्राकृत ग्रन्थ परिषद, गन्थाङ्क ३, सं० अमृतलाल मोहनलाल भोजक, वाराणसी ।

७. कापड़िया, भक्तामर०, पृ० ७, देखिए वहाँ दिया गया उद्धरण ।
८. कापड़िया, भक्तामर०, “भूमिका,” पृ० ७.
९. वही.
१०. देखिए पूर्वाचार्य विरचितः श्री सप्तस्मरणस्तवः, श्री जिनदत्तसूरि प्राचीन पुस्तकोद्धार फण्ड (सुरत), ग्रन्थाङ्क ४६, सुरत १९४२, पृ० १८.
११. जैनस्तोत्रसन्दोह, प्रथमो भागः, सं० चतुरविजय मुनि, प्राचीन (जैन) साहित्योद्धार ग्रन्थावली, प्रथम पुष्प, अमदाबाद १९३२, पृ० २०१.
१२. *Descriptive Catalogue of Manuscripts in the Government Manuscripts Library, Jain Literature and Philosophy, Vol. XIX, Sec. 1, (Hymnology) Part 1, p. 45.*
१३. कापड़िया, भक्तामर०, “प्रस्तावना,” पृ० १८.
१४. कापड़िया, भक्तामर०, “भूमिका,” पृ० ७.
१५. देखिए जैनस्तोत्रसन्दोह, प्रथमो भागः, सं० चतुरविजय मुनि, प्राचीन (जैन) साहित्योद्धार ग्रन्थावली, अहमदाबाद १९३२, पृ० ११७, तथा कापड़िया, “प्रस्तावना”, भक्तामर०, पृ० १८.
१६. देखिए सिन्नुंज-कप्पो, सं० लाभसागर गणि, आगमोद्धारग्रन्थमाला, रत्न ४१, कपडवंज वि० सं० २०२६ (ईस्वी १९७०), पृ० १२९.
१७. कापड़िया, भक्तामर०, “प्रस्तावना,” पृ० १८-१९.
१८. कापड़िया, भक्तामर०, पृ० ७; वहाँ अध्यात्मकल्पद्रुम में से उद्धरण दिया गया है ।
१९. देखिए पार्श्वनाथचरित्रम्, सं० पं० हरगोविंददास - पं० बेचरदास, श्रीयशोविजयजैनग्रन्थमाला ३२, वाराणसी वी० सं० २४३८ (ईस्वी १९११).
२०. *Siddhasena Divakara's Nyāyāvatāra and his works, Ed. A. N. Upadhye, Bombay 1971, p. 169.*
२१. G. Yazdani, *The Rock-Hewn Temples of Aurangabad : Their Sculpture and Architecture*, London 1937, Fig.6, (Temple 7, Aurangabad).
२२. Cf. Debel Mitra ‘Astamahibhiya- Tara’, *Journal of the Asiatic Society (Calcutta)* Vol. XXIII, No. 1, 1957, pp. 19-22 and Plates I-III; and R. Sengupta “A Sceptural representation of Tara at Ellora”, *Bulletin of the Prince of Wales Museum of Western India*, Vol. V (1955-57), pp. 12-15.
२३. *Saddharmapūṇḍarikasūta*, Ed. P. L. Vaidya, *Buddhist Sanskrit Texts - No. 6*, Darbhanga 1960, pp. 253-256.
२४. देखिए बौद्ध स्तोत्र संग्रह, Vol. I, Calcutta 1908, तथा बौद्धस्तोत्रसंग्रह, सं० जनार्दन शास्त्री पाण्डेय, दिल्ली १९९४, पृ० ८९-९०.
२५. D. C. Bhattacharya, “An Unknown Form of Tārā”, in *The Sakti Cult and Tārā*, Ed. D. C. Sircar, pp. 138,139.
२६. कापड़िया, “स्तोत्रयुगनुं तुलनात्मक पर्यालोचन,” भक्तामर०, पृ० ३०, ३१.

स्तोत्रकर्ता का समय

मानतुंगसूरि के समय के विषय में अब तक कोई निर्णय नहीं हो पाया । क्वकेनबॉस महोदय ने (संभवतः श्वेताम्बर पट्टावलियों के आधार पर) उनका समय ईस्वी ३०० के आस-पास मान लिया था^१, किन्तु जो कथाएँ उनको उज्जयिनी के भोज का समकालिक कहती हैं, वह उन्हें सहसा ईस्वी ११वीं शती के पूर्वार्ध में रख देती हैं । परन्तु विद्वानों के अभिप्रायों में सरसरी तौर पर मानतुंग का समय ईस्वी सप्तम शतक का पूर्वार्ध माना जाता है; श्वेताम्बर चरितकार प्रभाचन्द्र द्वारा उन्हें बाण, मयूर और हर्ष के समकालिक बताना ही इसका आधार है । जो लोग शैली की दृष्टि से विचार करते हैं वे इन्हें ईस्वी सन् की सप्तम शती से अर्वाचीन नहीं मानते ।

उत्तर-मध्यकालीन तपागच्छीय एवं अन्य गच्छों की पट्टावलियाँ जो उन्हें विक्रम की तीसरी शती में रखती हैं, वह रचयिताओं की कल्पना मात्र है । उसकी निःसारता के बारे में जो चर्चा यकॉबी महोदय कर गये हैं, पठनीय है^२ । हम भी पीछे विस्तार से इस विषय में आलोड़न कर चुके हैं । दूसरी ओर कापड़िया जी ने अपने भक्तामरादि-स्तोत्रत्रयी की संस्कृत भूमिका में यह कह कर कि मध्यकाल में मुस्लिम आक्रमण के दौरान अनेक ग्रन्थादि नष्ट हो जाने से मानतुंगाचार्य के समय को स्पष्ट करने वाले प्रमाण नहीं मिले, इस विषय में अपनी लाचारी व्यक्त की है^३ । इसके कई साल बाद अपने एक अन्य प्रकाशन में भक्तामरस्तोत्र के शीर्षक के पश्चात् कोष्ठक में उनका समय विक्रम की ८वीं शताब्दी दिया है और वहीं दूसरी जगह पर मानतुंग को हेमचन्द्र से करीब डेढ़ सौ साल पहले होने का भी जिक्र किया है^४ ।

ठीक यही हालत दिगम्बर विद्वानों की भी है । उनके पास भी ऐसा कोई साधन नहीं जिसके आधार पर थोड़ा बहुत विश्वस्त निर्णय कर सकें । हाँ, बहुत बाद के (१७वीं शती के) दिगम्बर लेखन में मानतुंग को महाकवि धनंजय के गुरु के रूप में बताया गया है और यह बात मान लेने पर उनका समय सप्तमशती का उत्तरार्ध माना जा सकता है; लेकिन ऐसा मानने के लिए कोई ठोस प्रमाण की आवश्यकता है, जबकि स्वयं धनंजय ने अपनी कृतियों में मानतुंग को अपने गुरु रूपेण कहीं नहीं बताया, न ही किसी प्राक्-मध्यकालीन एवं मध्यकालीन दिगम्बर स्रोत में ऐसा जिक्र मिलता है ।

निर्ग्रन्थ विद्वानों की यह स्थिति रही है । विदेशी विद्वानों की इस विषय पर क्या राय रही वह देखें तो कीथ महोदय का कहना था कि मानतुंग बाण के समकालीन हो सकते हैं, परंतु उनका काल १५०-२०० साल बाद का हो सकता है^५ । किन्तु विन्टरनिट्स महाशय का कथन रहा कि श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनों में उसकी भारी प्रतिष्ठा होने से वह सापेक्ष दृष्ट्या प्राचीन हो सकता है जबकि ग्लसनेप्पु उनका समय अनिर्णित मानते थे^६ । दूसरी ओर यकॉबी महोदय ने यह कहकर इस विवाद से अपना हाथ खींच लिया है कि “जब तक भक्तामर या भयहर का कोई उद्धरण या निर्विवाद उल्लेख चूर्णियों, भाष्यों

या हरिभद्र जैसे प्राचीन कर्ताओं की कृतियों में न पाया जाय तब तक निश्चयपूर्वक इतना ही कहा जा सकता है कि ईस्वी १३वीं शताब्दी के अन्तभाग में [यानि प्रभावकचरित—जो मानतुंग कथा से सम्बद्ध सबसे पुराना स्रोत है—की रचना के समय में] मानतुंग को एक पुरातन आचार्य माना जाता था।” बात तो ठीक है, किन्तु आगमिक भाष्य गाथामय एवं प्राकृत भाषा में निबद्ध होते थे और अपनी संगठन-प्रकृति एवं भाषा-भिन्नता के कारण भक्तामर का उद्धरण या पद्य का समावेश वहाँ संभव नहीं। और बहुत से पुराने भाष्यों की रचना मानतुंगाचार्य के समय से पूर्व ही हो चुकी होंगी, ऐसी भी सम्भावना है। दूसरी ओर प्राकृत चूर्णिकारों एवं संस्कृत वृत्तिकारों ने जो उद्धरण दिए हैं वे विशेषकर आगमिक सिद्धान्तों, दार्शनिक स्थापनाओं, उपदेशात्मक सूत्रों के समर्थक पद्यों, एवं नीतिपरक सुवाक्यादि के रूप में हैं। क्योंकि सिद्धसेन और समन्तभद्र की स्तुतियाँ दर्शनप्रवण हैं इसलिए इनमें से कभी कभी सन्दर्भयोग्य उद्धरण वहाँ मिल जाता है। किन्तु भक्तामर एवं भयहरस्तोत्र विशुद्ध भक्तिपरक रचनाएँ हैं। यदि वे कुछ चूर्णियों के पूर्व बन भी चुकी हों तो भी बिना अवसर या प्रसंग के सिवा, व्याख्याकार उनमें से उद्धरण नहीं देंगे, न दे सकते हैं। ठीक यही बात हरिभद्र के सन्दर्भ में भी कही जा सकती है। जैसा कि आगे देखेंगे, भक्तामर के जो कुछ उद्धरण दिये हैं, वे सब निर्ग्रन्थकृत काव्यशास्त्रों की व्याख्याओं के उपलक्ष्य में ही हैं और वे सब उपलब्ध रचनाएँ मध्यकालीन हैं।

यद्यपि कापड़िया जी ने यकॉबी महोदय के उपरोक्त कथन का कोई उत्तर अपनी प्रस्तावनाओं में नहीं दिया है, फिर भी उन्होंने अन्य कर्ताओं द्वारा भक्तामर के कुछ उल्लेख एवं स्तोत्र के पुराने उद्धरण प्रकाशित किये हैं, जो कुछ हद तक साम्प्रत सन्दर्भ में उपयुक्त सिद्ध हो सकते हैं। इनमें श्वेताम्बर काव्यशास्त्री वाग्भट्ट कृत वाग्भट्टालंकार (प्रायः ईस्वी ११२०-२५) पर खरतरगच्छीय सिंहदेव गणि की वृत्ति (जिसमें भक्तामर का ११वाँ पद्य उद्धृत है), या खरतरगच्छीय जिनप्रभसूरि की उवसगगहरथोत्त की टीका एवं कर्पूरमंजरीटीका जिसमें भक्तामर का दसवाँ पद्य उद्धृत है, समाविष्ट है। परन्तु वे दोनों कर्ता प्रभावकचरितकार प्रभाचन्द्र के बाद के हैं। दूसरी ओर दिगम्बर काव्यशास्त्री नेमिकुमार के काव्यानुशासन की स्वोपज्ञ टीका (ईस्वी १३वीं शताब्दी अन्तिम चरण) के “माधुर्याधिकार” में भक्तामर का ११वाँ पद्य उद्धृत है। पर उसके कर्ता संभवतः प्रभावकचरितकार प्रभाचन्द्र का लघुवयस्क समकालिक है, पूर्ववर्ती नहीं।

प्रभाचन्द्र से पूर्ववर्ती उल्लेखों में एक तो है पौर्णमिक मुनिरत्न सूरि का। अपनी कृति अममस्वामिचरित (ईस्वी ११६९) की उत्थानिका में उन्होंने अपने सम्प्रदाय के अनेक पूर्व कवि-सूरियों के संग ‘मानतुंग’ का भी यथोचित स्मरण किया है, यथा :

मानतुंग-देवभद्रसूरि स्तुत्यौ मरालवत् ।

ऊषतुर्मानसे यौ श्री सातवाहन-भोजयोः ॥२३॥

मुनिरत्नसूरि के समकाल में पूर्णतल्लगच्छीय आचार्य हेमचन्द्र ने काव्यानुशासन की स्वोपज्ञ अलंकारचूडामणिवृत्ति में भक्तामरस्तोत्र का ११वाँ पद्य उद्धृत किया है^{१०} और सम्भव है कि दिगम्बर कवि नेमिकुमार, जो हेमचन्द्र की इस कृति से परिचित थे, उन्होंने वही पद्य अपनी वृत्ति में हेमचन्द्र से

ही लिया हो । उपरोक्त दो प्रमाणों से सिद्ध है कि मानतुंग का भक्तामरस्तोत्र ईस्वी १२वीं शताब्दी में काफ़ी प्रसिद्ध था ।

कापड़िया महोदय ने एक और प्राचीन उल्लेख परमारराज भोज और उनके उत्तराधिकारी जयसिंह के समकालीन, प्रसिद्ध दिगम्बर व्याख्याकार एवं दार्शनिक विद्वान् प्रभाचन्द्र की क्रियाकलापटीका में बताया है^{११}; वहाँ मानतुंग का उल्लेख महाकवि के रूप में किया गया है । ठीक इसी उल्लेख का निर्देश प्रा० कापड़िया के ३४ वर्ष पश्चात् डा० नेमिचन्द्र शास्त्री^{१२}, और उनके आधार पर उनसे ११ वर्ष बाद डा० ज्योतिप्रसाद जैन ने भी किया है, और उन्होंने वहाँ प्रस्तुत टीका का वर्ष कोष्ठक में ईस्वी १०२५ दिया है^{१३} ।

इससे भी प्राचीन काल में इस स्तोत्र की ख्याति से सम्बन्धित हम यहाँ एक ऐसा प्रमाण प्रस्तुत करेंगे जो मानतुंग के समय पर गौर करने वाले विद्वानों के ध्यान में अब तक नहीं आया । धर्मदासगणि की उपदेशमाला (प्रायः ईस्वी ६ठी शती मध्य) की २३०वीं गाथा के “थक्थुइ” शब्द की व्याख्या में सिद्धर्षि (कार्यकाल प्रायः ईस्वी ८८०-९२० या -९१२) ने उदाहरणरूपेण भक्तामरस्तोत्र का उल्लेख किया है । यथा^{१४} :

“स्तवा भक्तामराद्याः स्तुतयो याः”

इस आधार से निःशंक कहा जा सकता है कि ईसा संवत् के नवम-दशम शतक में भी भक्तामर की भारी प्रतिष्ठा थी, कारण कि सिद्धर्षि जैसे आरूढ़ विद्वान् भी दृष्टांत रूप में और किसी स्तुत्यात्मक कृति को न लेकर भक्तामर के प्रति ही अंगुलि-निर्देश करने को बाध्य हो जाते हैं । स्तोत्र, इस कारण निर्ग्रन्थ विश्व में अत्यन्त जनप्रिय होने के अतिरिक्त उस समय में भी प्राचीन माना जाता रहा होगा ।

यकॉबी महाशय के प्रश्न का उत्तर कुछ हद तक तो इसमें से ही मिल जाता है । बाह्य प्रमाणों से भक्तामर की उत्तरावधि को ईस्वी १२७७ से हटाकर इससे करीब ३७५ वर्ष पीछे अब हम ले जा सकते हैं । दूसरी ओर कीथ महोदय ने मानतुङ्ग को बाण-मयूर के समय से करीब १५०-२०० साल बाद में होने की सम्भावना तो व्यक्त की है, किन्तु ऐसी धारणा के लिये कोई आधार नहीं बताया । स्तोत्र की शैली निश्चय ही प्राक्मध्यकाल से पूर्व की है । लेकिन स्तोत्र वास्तव में कितना पुराना है इसका विनिश्चय तो उसके कलेवर का परीक्षण करने से ही सम्भव हो सकता है । प्रथम दृष्टिपात से भी भक्तामर की संरचना एवं शैली निश्चयतया प्राक्मध्यकाल से भी पूर्व की दिखाई देती है । इस सम्बन्ध में जो कुछ नये प्रमाण यकॉबी के बाद के विभिन्न विद्वानों के प्रयास से सामने आये हैं, और कुछ हमारे ध्यान में भी आये हैं, वे यहाँ प्रस्तुत किये जा रहे हैं :-

१) कटारिया महानुभाव का कहना है कि (पञ्चस्तूपान्वयि स्वामी वीरसेन-शिष्य) भगवज्जिनसेन का आदिपुराण (ईस्वी ८३७ बाद) के पर्व ७, २९३-३११ का वर्णन भक्तामरस्तोत्र से मिलता है^{१५} । और पं० अमृतलाल शास्त्री ने भक्तामर का ३०वाँ एवं आदिपुराण का ७.२९६ वाँ पद्य उद्धृत करके दोनों के आशय की समानता के प्रति निर्देश किया है^{१६} । यदि यह ठीक है तो मानतुंगसूरि ईस्वी नवम

शताब्दी के पूर्व के सिद्ध हो जाते हैं ।

२) जब काल-निर्णय में विचार साम्य को आधार माना जा सकता है तो हम यहाँ एक दो इससे भी पुरातनकालीन एवं समान वस्तु-हेतु रखने वाले उद्देश्य के तरफ ध्यान खींचना चाहेंगे । भद्रकीर्ति (बप्पभट्टी सूरि) की चतुर्विंशतिका (प्रायः ईस्वी ७७५-८००) का प्रारम्भिक पद्य भक्तामर के प्रथम पद्य के प्रभाव से प्रेरित हो, ऐसा भास होता है^{१७} । यथा :

नग्नेन्द्र मौलि गलितोत्तम पारिजात

- स्तुतिचतुर्विंशतिका, १

भक्तामरप्रणत-मौलि-मणिप्रभागाम्

- भक्तामरस्तोत्र, १

और चतुर्विंशतिका का पद्य भी वसन्ततिलका वृत्त में ही निबद्ध है ।

तदतिरिक्त भक्तामर का चारों चरण “तुभ्य” शब्द से आरंभित होने वाला पद्य २६ की तरह ही भद्रकीर्ति के अभी अभी ज्ञात हुए एक अन्य स्तोत्र के दो पद्य है^{१८} । भक्तामर ईस्वी ७७० के अरसे में पठन में होगा ।

३) पूज्यपाद देवन्दी (प्रायः ईस्वी ६३५-६८०) के सुविश्रुत समाधितन्त्र^{१९} के द्वितीय पद्य की भक्तामर के २५वें पद्य के संग तुलना करने से दोनों के बीच अर्थ की ही नहीं बल्कि कहीं-कहीं तो शब्दों की भी समानता दिखाई देती है । देवन्दी एक आला दर्जे के लक्षणशास्त्री थे और बेजोड़ समासकार भी । वह अपना कथन हमेशा अपनी विशिष्ट संक्षेपणकला का आश्रय लेकर करते थे, इतना स्वरूप सम्बद्ध अभिगम का फर्क अलबत्ता इन दोनों के बीच जरूर उपस्थित है । तुलनार्थ दोनों के समान्तर पद्य यहाँ दिये जाते हैं -

बुद्धस्त्वमेव विबुधार्चित बुद्धिबोधात्,

त्वं शङ्करोऽसि भुवनत्रयशङ्करत्वात् ।

धाताऽसि धीर ! शिवमार्ग विधेर्विधानाद्,

व्यक्तं त्वमेव भगवन् ! पुरुषोत्तमोऽसि ॥

- भक्तामरस्तोत्र २५.

और

जयन्ति यस्यावदतोऽपि भारती-

विभूतयस्तीर्थकृतोऽप्यनीहितुः ।

शिवाय धात्रे सुगताय विष्णवे

जिनाय तस्मै सकलात्मने नमः ॥

- समाधितन्त्र २.

इससे स्पष्ट है कि मानतुंग ईस्वी ६३५ से भी पूर्वकालीन या कम से कम ईस्वी ५७५ और ६३५ के बीच रहे होंगे, ऐसी सम्भावना है^{२०} ।

स्वामी समन्तभद्र (प्रायः ई० ५५०-६२५)^{२१} की स्तुत्यात्मक कृतियों से भक्तामर की तुलना करने पर दोनों के बीच कोई खास सम्बन्ध हो ऐसा प्रतीत नहीं होता । समन्तभद्र अलंकारिक सम्प्रदाय के महाकवि थे और मानतुंग ने क्लिष्ट अलंकार और जटिल एवं व्यामिश्र यमकों का प्रयोग कहीं नहीं किया । दोनों के पद्यों में किसी भी प्रकार की समानता नहीं दिखाई देती । दोनों एक दूसरे की कृतियों से प्रायः अपरिचित ही रहे हों, ऐसा महसूस होता है । अलग-अलग क्षेत्रों में—मानतुंग शायद आनर्त-लाट-मालव-विदर्भादि प्रदेशों में और समन्तभद्र दमिल, केरल-कुन्तल-कर्णाट आदि में—कदाचित् एक ही समय में विचरते रहे होंगे ।

दूसरी ओर सिद्धसेन दिवाकर (ईस्वी पंचम शती पूर्वार्ध) की सूक्तियों से मानतुंग परिचित रहे होंगे, ऐसा कुछ आभास कहीं-कहीं दोनों की रचनाओं में शब्द-साम्य से प्रतीत देता है; उदाहरणार्थ देखिए नीचे दिए हुए दोनों के पद्य चरण^{२२} :-

त्वन्नामकीर्तन जलं शमयत्यशेषम् ।।

- भक्तामरस्तोत्र-३६

त्वन्नामसंकीर्तन पूतयतनः

- पंचमद्वात्रिंशिका-१

दोनों में “नामकीर्तन” और उसके प्रभाव की बात परिलक्षित है जो पौराणिक भक्तिमार्ग के प्रति निर्देश करता है और अन्यत्र प्राचीन निर्ग्रन्थ स्तुतिस्तवनों में ऐसा शब्द-प्रयोग देखने में नहीं आता । भक्तामर के १५वें पद्य के प्रथम चरण के प्रारम्भ का “चित्रं किमत्र यदि” पदखण्ड सिद्धसेन की दो द्वात्रिंशिकाओं में भी मिलता है :-

चित्रं किमत्र यदि ते त्रिदशाङ्गनाभिर् ।

- भक्तामरस्तोत्र-१५

चित्रं किमत्र यदि निर्वचनं विवाद ।

- द्वितीयाद्वात्रिंशिका-८

चित्रं किमत्र यदि तस्य तवैव राजन्

- एकादशद्वात्रिंशिका-११

इस बात में समानता निर्देशक एक और बात यह भी है कि सिद्धसेन की पिछली दोनों द्वात्रिंशिकाओं के सम्बन्धकर्ता पद्य भक्तामर की तरह वसन्ततिलका-वृत्त में ही निबद्ध है । यह सब आकस्मिक नहीं हो सकता । अतः उपर्युक्त दृष्टान्तों से ऐसा प्रतीत होता है कि भक्तामर के कर्ता

मानतुंगाचार्य, सिद्धसेन दिवाकर (प्रायः ईस्वी पंचम शती पूर्वार्ध) के पश्चात् हुए होंगे ।

भक्तामर में जिनेन्द्र के विहार के समय पद-पद पर देवसर्जित कमल का आविर्भाव होना उल्लिखित है । यथा :

उन्निद्र हेमनवपङ्कजपुञ्जकान्ति-
पर्युल्लसन्नखमयूखशिखाऽभिरामौ ।
पादौ पदानि तव यत्र जिनेन्द्र ! धत्तः
पदानि तत्र विबुधाः परिकल्पयन्ति ॥

- भक्तामरस्तोत्र-३२

यद्यपि आगमोक्त ३४ अतिशयों में इसकी गिनती नहीं की गई है पर अन्यत्र इसी मान्यता का उल्लेख पउमचरिय (प्रायः ईस्वी ४७३) में हुआ है^{३३} । यथा :

जतो ठवेइ चलणे तत्तो जायन्ति सहसपत्ताइं ।

- पउमचरिय २.३१.

दिगम्बर परम्परा में भी ३४ अतिशयों में भूमि पर माने जानेवाले कमल विहार की गिनती नहीं है । वहाँ तीर्थंकरों का “नभोविहार” माना गया है और समन्तभद्र ने भी आप्तमीमांसा की आरम्भिक कारिका में उसका “नभोयान” के रूप में उल्लेख किया है^{३४} । परन्तु ग्रन्थान्तरेण स्वयंभूस्तोत्र में जिन पद्मप्रभ उद्देशित पद्यों में नभस्थान में सहस्रपत्र-कमल के गर्भ में चरण रखते हुए जिनदेव के विहार का उन्होंने उल्लेख किया है^{३५} और साथ ही भूमि पर विहार का भी । यथा :

नभस्तलं पल्लवयन्निवं त्वं
सहस्रपत्राऽम्बुज-गर्भचारैः ।
पादाऽम्बुजैः पातित-मार-दर्पो
भूमौ प्रजानां विजहर्ष भृत्यै ? ॥

- स्वयंभूस्तोत्र २९

इससे ऐसा लगता है कि भक्तामरकार मानतुंग पउमचरिय के कर्ता विमलसूरि के बाद और संभवतः समन्तभद्र के समकालीन रहे हों । यदि ऐसा हो तो मानतुंगाचार्य का इस तरह सरसरी तौर पर बाण या मयूर या दोनों के समकालीन होना संभावित हो सकता है । दन्तकथा में भले तथ्य न हो पर इन तीनों के बीच जो समकालीनत्व की कल्पना की गई है, उसमें आकस्मिक रूप से कुछ तथ्य हो सकता है । अलबत्ता मानतुंग का श्री हर्ष की सभा से कोई सम्बन्ध रहा हो ऐसा प्राचीन प्रमाण उपलब्ध नहीं है या बाण, मयूर एवं भक्तामरकार की शैली के बीच खास या विशेष साम्य नहीं है । मयूर की शब्दाडम्बरी, समासबहुल, अलंकारप्रचुर एवं जटिल गौडीरीति की तुलना में मानतुंगाचार्य की रीति वैदर्भीप्रायः है और वहाँ ओज और कान्ति होते हुए भी प्रधानता प्रसाद गुण और स्फोटात्मक घोष-प्रतिघोष की है ।

यद्यपि बाण का चंडीशतक, मयूर के सूर्यशतक की अपेक्षा, कुछ सरल है और कुछ हद तक ज्यादा ओजस्वी भी, फिर भी वह भक्तामर की प्रौढ़ि और काव्यप्रकृति से बहुत भिन्न है। मानतुंगाचार्य दरबारी कवि नहीं थे और कविता-सम्प्रदाय की दृष्टि से वे आलंकारिक भी नहीं हैं। हो सकता है वे बाण, मयूर और समन्तभद्र से भी कुछ ज्येष्ठ रहे हों। उपलब्ध प्रमाणों के आधार पर इस धारणा से विशेष कुछ भी कहना अभी संभव नहीं है। सरसरी तौर पर मानतुंगाचार्य का समय ईस्वी ५५०-६२५ के बीच होना असंभवित नहीं है। दूसरी ओर देखा जाय तो बौद्ध कवि मातृचेट ही नहीं कालिदास, सिद्धसेन, आदि गुप्तयुग के कविवरों से मानतुंग की शैली भिन्न दिखाई देती है, और सामान्य रूप से उनके बाद के समय की प्रतीत होती है। लेकिन ईस्वी पाँचवी-छठी शती के माने जाने वाले नाट्यकार एवं कवि, मातृगुप्त का वसन्ततिलका-वृत्त में निबद्ध एक पद्य, जो उद्धरण के रूप में मिलता है^{२६}, इसकी शैली से भक्तामर के पद्यों की शैली काफ़ी मिलती-जुलती है। यह पद्य इस प्रकार है-

नायं निशामुखसरोरुहराजहंसः ।

कीरीकपोलतलकान्तनुः शशाङ्कः ।

आभाति नाथ ! तदिदं दिविदुग्धसिन्धु

डिण्डीरपिण्डपरिपाण्डु यशस्त्वदीयम् ॥

वसन्ततिलका में तो प्राचीन और कविवरों ने भी पद्य रचना की है, किन्तु मातृगुप्त में ही मानतुंग जैसे ढंग का कान्तिमान, नर्तनमय और सुस्पष्ट छन्दोलय दिखाई देता है। क्या मानतुंग भी गुप्तकालीन थे? हो सकता है वे पश्चात्कालीन होते हुए भी मातृगुप्त की शैली के आदर्श को सामने रखकर चले हों। आखिर मातृगुप्त के एक ही उपलब्ध पद्य की शैली, के संग समता या सादृश्यता से मिति के विषय में दृढ़ निर्णय ले लेना समुचित न होगा। फिलहाल मानतुङ्ग को सावधानी के खातिर छठी शताब्दी उत्तरार्ध में रख दें तो अनुचित न होगा।

एक और बात ध्यान में रखनी चाहिए कि भक्तामर का २६वाँ पद्य विविध चित्रबन्धों में रखा जा सकता है, जैसा डा० रुद्रदेव त्रिपाठी कह चुके हैं^{२७}। चित्रालंकार उपलब्ध संस्कृत साहित्य में सबसे पहले महाकवि भारवि (प्रायः ईस्वी ५०० से ५५०) के किरातार्जुनीय काव्य के कुछ पद्यों में मिलता है और उनके करीब सौ साल बाद उदाहरण के रूप में कविराज दंडी के काव्यादर्श में और इन दो कवियों के अन्तराल में समन्तभद्र की अनुगुप्तकालीनकृति स्तुतिविद्या में भी प्रचुर संख्यक उदाहरण मिलते हैं। उनके पूर्व कुषाणकालीन बौद्ध कविवर अश्वघोष, आर्यदेव, मातृचेट या गुप्तकालीन नाट्यकार भास, प्रशस्तिकार हरिषेण, कविकुलगुरु कालिदास, और दार्शनिक स्तुतिकार सिद्धसेन दिवाकर की कृतियों में चित्रालंकार का प्रयोग दृष्टिगोचर नहीं हुआ है। इस तथ्य को देखते हुए मानतुंगाचार्य को हम कम से कम ईस्वी छठी शती उत्तरार्ध में रखें, तो वह उनके वास्तविक काल के विशेष समीप संभावित हो सकता है।

टिप्पणियाँ :-

१. देखिए Hermann Jacobi, "Foreword," pp. 1-VIII, भक्तामर०, सं० हि० र० कापड़िया, Bombay 1932.
२. वही.
३. कापड़िया, भक्तामर०, "भूमिका," पृ० २०-२१.
४. जैन संस्कृत साहित्यनो इतिहास, वडोदरा १९६८, पृ० ३१३, ३१४.
५. A. Berriedale Keith, *A History of Sanskrit Literature*, reprint, London 1961, p. 215.
६. Maurice Winternitz, *A History of Indian Literature*, Vol-II. Sec.ed., reprint, Delhi 1977 p. 549 : and H. Von Glasenapp, *Jainism*, Delhi 1998, p. 149.
७. Jacobi, "Foreword," भक्तामर०, p. VII.
८. कापड़िया, भक्तामर०, "भूमिका," पृ० १२.
९. श्रीअममस्वामिचरित्र, प्रथम विभाग, सं० विजयकुमुदसूरि, अमदावाद वि० सं० १९९८ (ईस्वी १९४२), पृ० २.
१०. कापड़िया, "भूमिका," पृ० १२.
११. वही ग्रन्थ, पृ० १९.
१२. "आचार्य मानतुंग," अनेकान्त, १८-६, फेब्रु० १९६६, पृ० २४२.
१३. "प्रस्तावना," सचित्र भक्तामर रहस्य, सं० पं० कमलकुमार जैन शास्त्री 'कुमुद', देहली १९७७, पृ० ३१, ३७.
१४. उपदेशमाला-सटीका, प्र० पं० हीरालाल हंसराज, जामनगर १९३९, पृ० १३४.
१५. "भक्तामर स्तोत्र," जै० नि० र०, पृ० ३३८.
१६. भक्तामर स्तोत्रम्, द्वि० सं०, वाराणसी १९६९, पृ० १५-१६.
१७. देखिए कापड़िया, भक्तामर०, मूलपाठ, पृ० १ तथा कापड़िया, चतुर्विंशतिका, मूलपाठ, पृ० १.
१८. पद्य इस प्रकार है ।

नमस्तुभ्यं भवांभोधि-निमज्जंत्तु-तारिणे ।

दुर्गापवर्ग-सन्मार्ग-स्वर्ग-संसर्ग-कारिणे ॥७२८॥

नमस्तुभ्यं मनोमल्ल-ध्वंसकाय महीयसे ।

द्वेषद्विप-महाकुम्भ-विपाटन-पटीयसे ॥७२९॥

देखिए अज्ञातकर्तृक प्रबन्ध-चतुष्टय, सं० रमणीक म० शाह, अहमदाबाद १९९४, पृ० ६८, ७२८-७२९.

१९. समाधि-शतक, सं० राउजी नेमचंद शाह, द्वितीय संस्करण, अलिगंज १९६२.
२०. इस विषय में यहाँ थोड़ा सा और बताया जायेगा ।
२१. समन्तभद्र के समय सम्बद्ध विस्तार से चर्चा निर्ग्रन्थ तृतीय अंक, अहमदाबाद १९९७ में "स्वामी समन्तभद्रनो समय" नामक लेख में होने जा रही है ।
२२. यहाँ जो उद्धरण लिये गये हैं वे सब *Siddhasena's Nyāyāvatāra.*, pp. 125, 114, 143. (सिद्धसेन का समय विषयक चर्चा हमारी श्री बृहद निर्ग्रन्थ स्तुतिमणिमंजूषा की "प्रस्तावना" में हो रही है ।)
२३. (मूल) संपादक हंसराज यकोंबी, सं० मुनि पुण्यविजय, वाराणसी २९६२, पृ० ११, १२.
२४. आत्ममीमांसा का सुप्रसिद्ध प्रथम श्लोक का प्रथम चरण : देवागम नभोयान चामरादि विभूतयः आदि ।
२५. स्वयम्भूस्तोत्र, सं० पं० जुगल किशोर मुख्तार, सहारनपुर १९५९, पृ० २२.
२६. डा० रुद्रदेव त्रिपाठी, "भक्तामर स्तोत्र काव्य समीक्षा," भक्तामर रहस्य, पृ० ४०३-४०४.
२७. वही, पृ० ३९५.

स्तोत्रकर्ता का सम्प्रदाय

आचार्य मानतुंग ने अपने दो में से एक भी स्तोत्र में न तो अपने समय, न ही सम्प्रदाय-निदर्शक कोई संकेत दिया है और उनके सम्प्रदाय के विनिर्णय का कार्य भी एकदम आसान नहीं है। वर्तमान में विद्यमान निर्ग्रन्थ-दर्शन के दोनों सम्प्रदाय मानते हैं कि पहले वे विपक्षी सम्प्रदाय में हुए थे और बाद में अपने सम्प्रदाय में दाखिल हो गये थे; वस्तुतया ऐसे दावे के समर्थक आनुश्रुतिक कथाएँ भी दोनों द्वारा मध्यकाल में गढ़ दी गई हैं। पं० अजितकुमार शास्त्री ने लिखा है : “मानतुंगाचार्य दिगम्बर थे या श्वेताम्बर यह बात अभी इतिहास से ठीक ज्ञात नहीं हो पायी है; क्योंकि न तो उनकी और कोई निर्विवाद रचना पाई जाती है जिससे इस बात का निर्णय हो सके और न भक्तामरस्तोत्र में ही कहीं कुछ ऐसा शब्द-प्रयोग पाया जाता है जिससे उनका श्वेताम्बरत्व या दिगम्बरत्व का निर्णय किया जा सके”^१। उपलक (superficial) दृष्टि से तो यह बात सही है; फिर भी कई मुद्दे ऐसे भी हैं, जो इस समस्या के निराकरण में कुछ हद तक सहायक बन सकते हैं। हम यहाँ कर्ता के सम्प्रदाय के विषय में गवेषणा समेत जो चर्चा करना चाहेंगे वह केवल ऐतिहासिक दृष्टिकोण को लेकर ही होगी। इससे कुछ भी सिद्ध हो सके, इसको साम्प्रदायिक अभिनिवेश से परे ही मानना चाहिए। समस्त निर्ग्रन्थदर्शन में बने हुए अच्छे स्तोत्रों (और अन्य भी उत्तम रचनाएँ) के वारिस उनके सभी अस्तित्वमान सम्प्रदाय एवं उपाध्यायों समान रूप से हैं और समादर से सब निर्ग्रन्थानुयायी उसका पठन-रटन करें उसमें कोई दुविधा, रोक-टोक, होंसार्तोसी, और अपनापन-परायापन, बड़प्पन-छोटप्पन या पुरानापन-नयापन का प्रश्न ही नहीं उठता। इसलिए स्तोत्रकार के सम्प्रदाय निर्णय करते समय इस पर लिखे गये सभी निर्ग्रन्थ-निर्ग्रन्थेतर विद्वानों के मंतव्यों-धारणाओं की, उपलब्ध साधनों एवं लभ्यमान बाह्य तथा अभ्यन्तर प्रमाणों के आधार पर, परीक्षा एवं समीक्षा करनी होगी। इसमें से जो अन्तिम, कुछ हद तक विशेष प्रमाणपूत एवं प्रतीतिपूर्ण निर्णय प्राप्त हो सके, वही यहाँ प्रस्तुत करना ठीक होगा।

१) भक्तामरस्तोत्र का सर्जक एवं सर्जन-सम्बद्ध वृत्तान्त, तदतिरिक्त इस पर वृत्त्यादि कृतियों, और समस्यापूर्ति-रूप प्रतिकाव्यों की रचना दिगम्बर की अपेक्षा श्वेताम्बर सम्प्रदाय में अधिक संख्या में हुई हैं और उनमें से थोड़ी-बहुत दिगम्बर कृतियों से पुरानी भी हैं। लेकिन कथात्मक साहित्य का दन्तकथा से बढ़कर मूल्य नहीं; और वृत्त्यादि साहित्य भी ईस्वी १३वीं-१४वीं शताब्दी से प्राचीन नहीं तथा समस्यापूर्तिरूप काव्य भी १६वीं शती से पुराने नहीं हैं। ऐसी स्थिति में उन मुद्दों को लेकर मानतुंगसूरि श्वेताम्बर सम्प्रदाय में हुए थे ऐसा निश्चयपूर्वक कहने के लिए कोई ठोस प्रमाण नहीं बन पाता। ठीक इसी तरह भक्तामरस्तोत्र की प्राचीनतम हस्तप्रतियाँ श्वेताम्बर ग्रन्थभण्डारों से ही प्राप्त हुई हैं, इस पर भी ज्यादा जोर देने से विशेष अर्थ नहीं निकल सकता। यह एक तरह से आकस्मिक भी माना जा सकता है।

२) मानतुंगसूरि की मानी जानेवाली एक दूसरी कृति, भयहरस्तोत्र की उपलब्धि श्वेताम्बर में ही होती है एवं उस पर वृत्त्यादि साहित्य भी वहीं प्राप्त होता है^२; पर वह तथ्य भी सम्प्रदाय-विनिर्णय में पर्याप्त नहीं है । कुछ-कुछ दिगम्बर, यापनीय (और बौद्ध) रचनाएँ श्वेताम्बर ग्रन्थ भण्डारों में मिल जाने मात्र से या वहाँ प्रचार में होने मात्र से कर्ता को श्वेताम्बर नहीं माना जा सकता ।

३) प्राचीन एवं मध्यकालीन दिगम्बर पट्टावलियों में मानतुंग सूरि का कहीं भी जिक्र नहीं है । विरुद्ध पक्ष में श्वेताम्बर पट्टावलियों में और ऐसी रचनाओं में उनको स्थान मिला है । लेकिन इन पट्टावलियों का कहाँ तक विश्वास हो सकता है वह भी जान लेना जरूरी है । प्राचीनतम पट्टावलियों, जैसे कि पर्युषणाकल्प की “स्थविरावली” (ईस्वी १००-५०३), देववाचक कृत नन्दिसूत्र की “स्थविरावली” (प्रायः ईस्वी पंचम शती मध्यभाग) और इन दोनों के कथनों को समास रूप में रखनेवाली अजितसिंह सूरि की पट्टावली (प्रायः ईस्वी १२वीं शताब्दी पूर्वार्ध) में मानतुंग का नाम न मिलने का स्पष्टीकरण यही हो सकता है कि यदि वे औदिक्य परम्परा में हो भी गये हों तो पंचम शतक के बाद, और अवान्तर शाखाओं में से किसी में हुए होंगे, जिस कारण वज्री शाखा के पुरातन आचार्यों की क्रमावली में, एवं नन्दिसूत्र की वाचकों की सूची में उनको स्थान प्राप्त होना संभव नहीं हुआ । अञ्चलगच्छीय धर्मघोष सूरि का माना जाता ऋषिमंडलस्तव (प्रायः १३वीं शती का प्रथम चरण) व तपागच्छीय धर्मघोषसूरि के दुःषमाकाल-श्रमणसंघस्तव (प्रायः ईस्वी १२५०-१२७५ के बीच) के अन्तर्गत आर्य महागिरि (ईसा पूर्व तीसरी शताब्दी) तक तो सिलसिलाबद्ध नाम दिये गये हैं । परन्तु बाद में ऊपर कथित दोनों प्राचीनतम स्थविरावलियों और आवश्यकनिर्युक्ति वगैरह में मिलते आर्य रक्षित, रेवतिमित्र, आर्य नागहस्ति, सत्यमित्र और तत्पश्चात् के हारिल (वाचक हरिगुप्त, प्रायः ईस्वी ४७५-५२९) और दूसरे में जिनभद्र गणि क्षमाश्रमण (प्रायः ईस्वी ५४५-५९४) जैसे नाम गिनती में लिए गये हैं, किन्तु वहाँ भी मानतुंगाचार्य का कोई उल्लेख नहीं ।

मानतुंगसूरि के समय का, और उनके माने गये गुरु का सर्वप्रथम उल्लेख प्रभावकचरित के पश्चात् गुणाकरसूरि की भक्तामरवृत्ति (ईस्वी १३७०) और ईस्वी १५वीं के प्रारम्भ से लेकर १७वीं-१८वीं शताब्दी की तपागच्छीय गुर्वावलियों और बहुधा उनका अनुसरण करने वाली १६वीं-१७वीं-१८वीं शतक की अन्य गच्छों की पट्टावलियों में मिलता है । तपागच्छीय मुनिसुंदरसूरि की गुर्वावली और उनके गुरु के सतीर्थ्य गुणरत्नसूरि के गुरुपर्वक्रमवर्णन (वि० सं० १४६६ / ईस्वी १४१०) में कहा गया है कि आर्य वज्र के शिष्य वज्रसेन और उनके शिष्य, चन्द्रकुल के स्थापक, चन्द्रसूरि हुए । तत्पश्चात् चन्द्रकुल के चन्द्रमा १७वें आचार्य सामन्तभद्र हुए और उनके बाद वृद्ध देवसूरि हुए, जिन्होंने कोरण्टक (कोरटा, राजस्थान) में नाहड मंत्री द्वारा विनिर्मित चैत्य की प्रतिष्ठा की । तत्पश्चात् प्रद्योतनसूरि, और उनके बाद मानदेवसूरि हुए जिनके पास पद्मा, जया, विजया और अपराजिता नामक देवियाँ आया-जाया करती थीं तथा जिन्होंने नड्डूलपुर (नाडोल) में रहते हुए शाकम्भरीपुर में (ग्रन्थातरेण तक्षशिला में) लघुशान्ति-स्तव की रचना करके महामारी के उपद्रव को शान्त किया था । उनके पश्चात् २१वें आचार्य हुए “मानतुंग” जिन्होंने भक्तामरस्तोत्र के प्रभाव से, बाण-मयूर की विद्या से चकित हुए “भूप” को

प्रबोधित किया था, भयहरस्तोत्र से फणिराज (धरणेन्द्र) को आकर्षित किया था तथा भक्तिभर जैसे नमस्कार स्तव बनाये थे; और उनके बाद आये हुए २२वें आचार्य वीरसूरि ने नागपुर में नृप संवत् (वि० सं० ३०० / ई० सं० २४४) में चैत्य प्रतिष्ठा की थी^३। इस गिनती के आधार पर मानतुंगसूरि का समय प्रायः ईस्वी २००-२४४ माना गया है^४।

पट्टावलीकारों की इस कैफ़ियत में घोरातिघोर एवं विपुल संख्या में कालातिक्रम के दृष्टांत तो हैं ही, पर इसके अलावा अनेक बातें वास्तविक इतिहास से विपरीत आ गई हैं। पहली बात तो यह है कि वज्रसेन के जिन तीन-चार शिष्यों से चार शाखाओं में प्रवाह्यमान होने का उल्लेख **पर्युषणाकल्प** की “स्थविरावली” में प्राप्त होता है, वहाँ कहीं भी चान्द्रशाखा या चन्द्रकुल का जिक्र नहीं है और प्राचीन माने गये आचार्य चन्द्र के पश्चात् महावीर की परिपाटी में १७वें गद्दीधर का नाम ‘सामन्तभद्र’ दिया गया है, यह तो महान् दार्शनिक दिगम्बराचार्य स्वामी समन्तभद्र को जबरदस्ती से श्वेताम्बर बना देने का उद्यम मात्र है। उनके बाद जो देवसूरि के होने की बात की है और कोरण्टक में नागभट मन्त्री द्वारा निर्मित चैत्य की बात की है, वह तो प्राकृतमध्यकाल में, प्रतीहारयुग में, घटी हुई घटना को छह सौ साल और प्राचीन ठहरा दिया है। यह देवसूरि प्रबन्धों के अनुसार ऊपर कथित कोरण्ट के चैत्य के चैत्यवासी मुनि थे और उनका समय नवम-दशम शतक के पूर्व का नहीं। उनके बाद प्रद्योतनसूरि हुए ऐसा कहा है; लेकिन उस सूरि का काल दशम शतक उत्तरार्ध से पहले नहीं हो सकता। उनके नाम से चले हुए गच्छ से सम्बद्ध ११वीं शताब्दी उत्तरार्ध के कुछ लेख मिले हैं। ये आचार्य पुरातन नहीं हैं। अब उनके बाद आये मानदेवसूरि, जिनका बनाया हुआ लघुशान्तिस्तोत्र आज उपलब्ध है; वह खुलेआम मान्त्रिक होने के अतिरिक्त शैली से तो मध्यकालीन ही है; वह ११वीं शती उत्तरार्ध से प्राचीन नहीं। तदतिरिक्त नड्डूल एवं शाकंभरी (सांभर) भी प्राकृत-प्रतीहारकाल से ज्यादा प्राचीन नहीं है। आश्चर्य है, ईस्वी तीसरी शती में माने गये मानदेव के बाद जो मानतुंगसूरि हुए उनको, साथ ही सप्तम शतक पूर्वार्ध में हो गये बाण-मयूर के समकालीन भी माना गया! दूसरी ओर उनके शिष्य वीरसूरि का समय वि० सं० ३०० के करीब माना गया तब तो भ्रान्ति की पराकाष्ठा ही हो जाती है। इतना ही नहीं, पिछले तीनों आचार्यों के नाम पट्टावलियों में आगे चलकर दुहराये हैं, जिस वक्त मध्यकाल प्रवर्तमान हो गया था और अन्यथा वही तो इन सबका वास्तविक काल है। दूसरी ओर गुर्वावलिकार से १३३ साल पूर्व हो गये प्रभावकचरितकार ने भक्तामरकार के गुरु का नाम जिनसिंह बताया है। इससे गड़बड़ और बढ़ जाती है।

मुनिवर कल्याणविजय का एक अवलोकन, जो इस मौके पर हमारे सामने है, उपयुक्त होने के कारण यहाँ प्रस्तुत करना चाहेंगे। “वास्तव में वज्रसेनसूरि के बाद के श्रीचन्द्रसूरि से लेकर विमलचन्द्रसूरि तक के २० आचार्यों का सत्ता-समय अन्धकारावृत है। बीच का यह समय चैत्यवासियों के साम्राज्य का समय था। उग्र वैहारिक संविज्ञ श्रमणों की संख्या परिमित थी, तब शिथिलाचारी तथा चैत्यवासियों के अड़े सर्वत्र लगे हुए थे। इस परिस्थिति में वैहारिक श्रमणों के हाथ में कालगणना पद्धति नहीं रही। इसी कारण से वज्रसेन के बाद और उद्योतन सूरि के पहले के पट्टाधरों का समय व्यवस्थित नहीं है,

दरमियान कतिपय आचार्यों का समय गुर्वावलीकारों ने दिया भी है तो वह संगत नहीं होता, जैसे तपागच्छ गुर्वावलीकार आचार्य श्री मुनिसुन्दरसूरि जी ने आचार्य श्री वज्रसेन सूरि का स्वर्गवास समय जिन-निर्वाण से ६२० में लिखा है, जो विक्रम वर्षों की गणनानुसार १५० में पड़ता है । तथा वज्रसेन से चतुर्थ पुरुष श्री वृद्धदेवसूरि जी द्वारा विक्रम संवत् १२५ में कोरण्ट नगर में प्रतिष्ठा होना बताया है, इसी प्रकार १८वें पट्टधर प्रद्योतनसूरि के बाद श्री मानतुंगसूरि जो बाण और मयूर के समकालीन थे, उनको २०वाँ पट्टगुरु माना है, मयूर का आश्रयदाता कन्नौज का राजा श्रीहर्ष था जिसका समय विक्रम की सातवीं शती का उत्तरार्द्ध था, यह समय श्री मानतुंगसूरि के पट्टगुरु मानदेवसूरि के और मानतुंगसूरि के पट्टधर वीरसूरि के साथ संगत नहीं होता, क्योंकि मानतुंगसूरि के बाद के पट्टधर श्री वीरसूरि का समय गुर्वावलीकार श्री मुनिसुन्दर जीने निम्नोक्त श्लोक में प्रकट किया है -

“जज्ञे चैत्ये प्रतिष्ठा कृत्रमेनागिपुरे नृपात् ।

त्रिभिर्वर्षशतैः ३०० किंचिदधिकै वीर सूरिराट् ॥३७॥

आचार्य मानतुंग को कवि बाण मयूर के समकालीन मानना और मानतुंग के उत्तराधिकारी वीरसूरि का समय विक्रम वर्ष ३०० से कुछ अधिक वर्ष मानना युक्ति संगत नहीं है, वीरसूरि के बाद के आचार्य जयदेव, देवानन्द विक्रम और नरसिंह इन चार आचार्यों के समय की चर्चा गुर्वावली तथा पट्टावली में नहीं मिलती”^५ ।

लेकिन इतना कहने के बाद कल्याणविजय जी ने गुर्वावलीकार द्वारा उल्लिखित आचार्यों के सत्ता समय की विसंगति का समन्वय करने का जो जीतोड़ यत्न किया है, वह सराहनीय होते हुए भी अप्रतीतिकर ही दिखाई देता है । मानतुंग का समय खींचकर नीचे लाने के लिए वी० नि० संवत्सर को विक्रम संवत् मानने तक तो ठीक है, परन्तु “प्रद्योतन, मानदेव, मानतुंग और वीरसूरि इन चार आचार्यों का सत्ता-समय ३०० वर्ष के लगभग मान लिया जाय तो एकत्रित समयांक ६७५ तक पहुँचेगा और इस प्रकार से मानतुंगसूरि बाण, मयूर और राजा हर्ष के समय में विद्यमान हो सकते हैं”^६ कहना तो अजीब प्रकार की, अव्यावहारिक एवं असंभवित गिनती का ही द्योतक माना जायेगा । उत्तर-मध्यकालीन पट्टावलीकार, चाहे वे श्वेताम्बर हों या दिगम्बर, अपने गच्छ के पूर्व की स्थिति को स्पष्ट करने के लिए उनके पास कोई विश्वस्त सूचना नहीं थी, न गुरुक्रम का कोई सही सिलसिला बतानेवाला प्रमाण । इन सबों ने ज्यादातर कल्पना से ही काम चलाया है । प्राचीन श्वेताम्बर-दिगम्बर आचार्यों के समय-निर्धारण में पट्टावलियों को प्रमाण मानकर चलने वाले सभी विद्वान् खुद धोखे में रहे हैं और उनके कथन पर विश्वास करने वाले निर्ग्रन्थ-निर्ग्रन्थेतर विद्वान् संसार को गुमराह करने, ऐतिहासिक विपर्यासों का ढेर रच देने और आज तक गलत निर्णयों के अन्धकारमय चक्करों में फँसकर (और औरों को फँसाकर) इतिहास को ओझल कर देने के अतिरिक्त और कुछ भी हासिल नहीं कर पाये हैं ।

अब हम कुछ मुद्दे पेश करेंगे जिस पर गंभीरतापूर्वक विचार किया जा सकता है और जो विशेषकर स्तोत्र के आन्तरिक तथ्यों एवं लक्षणों से सबन्धित है ।

१) महान् दिगम्बराचार्यों एवं उपासक कविवरों की स्तुत्यात्मक कृतियाँ प्रायः दर्शन-प्रवण हैं । वे दार्शनिक एवं न्यायपरक परिभाषा एवं विभावों से छाथी हुई दिखाई देती हैं । स्वामी समन्तभद्र, पूज्यपाद देवन्दी, पात्रकेसरी स्वामी, भट्ट अकलंकदेव, महाकवि धनंजय, आदि प्राकृमध्यकालीन-विभूतियों की स्तुतियों में यह बात तो सहज नज़र में आ जाती है, परन्तु विद्यानन्दस्वामी (प्रायः ईस्वी १०वीं शती पूर्वार्ध), कवि भूपाल चक्रवर्ती (१०वीं-११वीं शती), माथुरसंघीय आचार्य अमितगति (१०वीं अन्तिम चरण और ११वीं शती पूर्वार्ध) द्राविड संघ के आचार्य वादिराज (११वीं शती पूर्वार्ध) और कुमुदचन्द्र (१२वीं शती पूर्वार्ध) आदि सुप्रसिद्ध मध्यकालीन दिगम्बर कर्ताओं की स्तवनादि रचनाओं में भी तीर्थकरों के गुणानुवाद दार्शनिक व्यंजना से स्पर्शित हैं । भक्तामरस्तोत्र में तो विशुद्ध भक्तिभाव ही दृष्टिगोचर होता है । ऐसी ही प्रवृत्ति, वादि-कवि भद्रकीर्ति अपरनाम बप्पभट्टि (प्रायः ईस्वी ७३४-८२९ या ७४४-८३९), मध्यकालीन कवियों में जिनशतककार कवि जम्बूनाग (प्रायः ईस्वी ९५०), मुञ्ज-भोज के सभाकवि धनपाल (१०वीं-११वीं शती) और उनके लघुबन्धु शोभन मुनि (१०वीं-११वीं शती), अभयदेवसूरि (११वीं शती उत्तरार्ध), महान् खरतरगच्छीय स्तुतिकार जिनवल्लभसूरि (प्रायः ईस्वी १०७०-१११०), जिनदत्तसूरि (ईस्वी १११०-११४२) एवं बाद की तो अनेक श्वेताम्बर कृतियों में दिखाई देती है । यह तथ्य भक्तामरकार के सम्प्रदाय विनिश्चय में कुछ हद तक उपयुक्त समझा जा सकता है । स्पष्ट है, मानतुंग दार्शनिक परम्परा के कवि नहीं थे ।

२) कर्णाटक के मध्यकालीन दिगम्बर शिलालेखों के अंतर्गत एवं दिगम्बर पट्टावलियों में उनके सम्प्रदाय के अनेक महान् आचार्यों का उल्लेख मिलता है परन्तु वहाँ कहीं भी 'मानतुंग' का नाम नहीं मिलता, इसका क्या खुलासा हो सकता है ?

३) जैसा कि हम पीछे देख चुके हैं, अष्टमहाभयों का उल्लेख गुप्तकाल एवं प्राकृमध्यकाल से लेकर उत्तर-मध्यकाल के श्वेताम्बर स्तवनों एवं कहीं-कहीं मध्यकालीन-उत्तरमध्यकालीन सैद्धान्तिक समुच्चय-स्वरूप ग्रन्थ रचनाओं में खूब मिलता है । वहाँ इस विभाव की उपस्थिति की निरंतरता रही है । दूसरी और दिगम्बर स्तुत्यात्मक साहित्यादि में यह बात देखने में नहीं आती । कुमुदचन्द्र के सामने भक्तामरस्तोत्र रहा था, फिर भी उन्होंने अष्टमहाभय विषयक पद्य कल्याणमन्दिरस्तोत्र या अपनी दूसरी कृति चिकूर-द्वात्रिंशिका में ग्रथित नहीं किया; क्योंकि उनके यहाँ यह परम्परा ही नहीं थी । यह तथ्य भी सम्प्रति चर्चा के सन्दर्भ में उपयुक्त बन सकता है ।

४) पीछे हम एक बात और भी देख चुके हैं कि भक्तामर में अष्ट-महाप्रातिहार्यों को लेकर नहीं पर आगमप्रणीत अतिशयों में से चुनकर चार दृश्यमान-सामीप्यमान विभूतियाँ, जो तीर्थकरों की देशना के समय पर प्रत्यक्ष बनती थीं, उनका ही वर्णन है और यह परिपाटी छठी-सातवीं शताब्दी की श्वेताम्बर आगमिक व्याख्याओं और कथात्मक साहित्य में भी देखने में आती है । (देखिए तालिका क्रमांक ५ ।) इस तथ्य के ही परिप्रेक्ष्य में भक्तामर के विभूति का वर्णन करने वाले चार ही मौलिक पद्य की संगति बैठ सकती है । (दिगम्बर परिपाटी में यही विभूतियाँ ३४ अतिशयों के अन्तर्गत नहीं, अष्ट-महाप्रातिहार्यों में समाविष्ट हैं । इसलिए वे उनकी दृष्टि से शेष रह जाते ४ प्रातिहार्य स्तोत्र में होना

आवश्यक समझते थे ।) यह मुद्दा भी प्रस्तुत सन्दर्भ में उपयुक्त है ।

५) चामर प्रातिहार्य के सम्बन्ध में दिगम्बर मान्यता में चामरों प्रायः दो से अधिक संख्या में माना गया है । (देखिए तालिका क्रमांक ६) । कुमुदचन्द्र ने चामरों के “ओघ” (समूह) की बात की है; तो जिनसेन के आदिपुराण में चामरालि (चामरावली) एवं ६४ चामरों की बात कही गई है । भक्तामर में बहुलता-दर्शक कोई इशारा न होने से वहाँ “चामरयुग्म” ही अपेक्षित मानना ठीक होगा और यह हकीकत, स्तोत्रकार मूलतः उस प्रणाली का अनुकरण कर रहा हो, ऐसा आभास कराती है । दो चामरों की मान्यता वाली परिपाटी दिगम्बर नहीं है^७ ।

६) अतिशयों की वर्णना के पश्चात् स्तोत्र के ३२वें (दिगम्बर पाठ के ३६वें) पद्य में जिनेन्द्र का कमलविहार उल्लिखित है । दिगम्बर सम्प्रदाय में तिलोयपण्णत्ती और समन्तभद्रकृत आप्तमीमांसा आदि प्रमाण में प्राचीन रचनाओं में जिन का नभोविहार होना बताया है^८, और विशेष में समन्तभद्र के बृहद्स्वयम्भूस्तोत्र में जिन पद्मप्रभ की स्तुति में एक ही पद्य में दोनों प्रकार के विहार (सन्दर्भानुसार) सूचित हैं । भक्तामर में ‘नभोयान’ का उल्लेख है ही नहीं; वहाँ वह बात कहने के लिए चार पदयुक्त पद्य में कहीं न कहीं अवकाश होते हुए भी । यदि स्तोत्रकार दिगम्बर थे तो इस महत्त्वपूर्ण बात का जिक्र क्यों नहीं किये ?

७) क्रियाकलाप-टीका के कर्ता आचार्य प्रभाचन्द्र (कविकर्मकाल प्रायः ईस्वी १०२०-१०६०) ने जो कुछ कहा है उस पर यहाँ अब विचार करना चाहिए । उनका कहना था कि मानतुंग नाम के एक श्वेताम्बर महाकवि थे जो व्याधिग्रस्त हो गये थे और एक निर्ग्रन्थाचार्य ने उनको रोग से मुक्त कराया । तब वह उनके शिष्य बन गये और पूछने लगे कि भगवन् ! अब मैं क्या करूँ ? गुरु ने कहा स्तोत्र बनाना इष्ट है ! और मानतुंग ने परमात्मा का गुण गाने वाले भक्तामर शब्द से आरम्भ होने वाली स्तुति रच डाली^९ । यथा :

“मानतुङ्गनामा सिताम्बरो महाकविः निर्ग्रन्थाचार्यवयैरपनीतमहाव्याधिः प्रतिपन्ननिर्ग्रन्थमार्गो भगवन् ? किं क्रियतामिति बुवाणो भगवतापरमात्मनो गुणगणस्तोत्रं विधीयतामित्यादिष्टः भक्तामरेत्यादिस्तुतिमाह ।”

प्रभाचन्द्राचार्य ने मानतुंग को, वे असल में श्वेताम्बर थे और संग-संग महाकवि भी थे, ऐसा स्पष्ट रूप से कहा है । मानतुंग महाकवि थे ऐसी तसल्ली करानेवाली तो भक्तामर (एवं भयहर) के सिवा और कोई कृति नज़र नहीं आती, न तो कहीं ऐसा कोई उल्लेख ही मिलता है । ऐसी स्थिति में इस कथा को तथ्यपूर्ण माना ही जाय तो दिगम्बर दन्तकथा की दृष्टि से भी भक्तामर की रचना, मानतुंग जब वे श्वेताम्बर सम्प्रदाय की आमन्या में रहे होंगे, तभी की हो सकती है । दूसरी बात यह है कि रोग दूर करना—भैषज्य से या मन्त्रप्रयोग से—वह धंधा निर्ग्रन्थ मुनि के कर्तव्यों में, चर्या में माना नहीं गया ! श्वेताम्बरों के लिए तो इसका आगमिक निषेध है ही, पर दिगम्बर मुनि की परिचर्या में भी इन प्रवृत्तियों को स्वीकृत आचार के विरुद्ध एवं सदोष, शिथिलाचार ही माना जायेगा । मानतुंग का

सम्प्रदाय-परिवर्तन यदि हुआ ही हो तो वह कोई सिद्धान्त को लेकर नहीं। तीसरी बात यह है कि प्रभाचन्द्राचार्य ने, वह दिगम्बर निर्ग्रन्थाचार्य कौन थे, किस संघ या अन्वय के रहे थे, बताया नहीं है। इस कथा से तो इतना ही सिद्ध होता है कि प्रभाचन्द्र जानते थे कि स्तोत्रकर्ता श्वेताम्बर सम्प्रदाय के थे; क्योंकि अपने समय में, ११वीं शताब्दी के पूर्वार्ध में, कम से कम मालव स्थित दिगम्बर सम्प्रदाय के अनुयायियों में, भक्तामरस्तोत्र का पठन होता रहा होगा, इसलिए उनके लिए श्वेताम्बर रचनाकार को दिगम्बर रूप में प्रस्तुत करना अपने-आप ज़रूरी बन गया, जैसा श्वेताम्बरों में कल्याणमन्दिरस्तोत्र अपना लेने से कुमुदचन्द्र को सिद्धसेन बनाकर श्वेताम्बर आम्नाय में रख दिया! हो सकता है, भक्तामर के कर्ता के सम्बन्ध में चल पड़ी दिगम्बर कथा के प्रतिवाद में श्वेताम्बर प्रभाचन्द्र ने या उनसे कुछ समय पूर्व के किसी अन्य श्वेताम्बर कर्ता ने स्तोत्रकार मानतुंग पहले दिगम्बर थे, बाद में श्वेताम्बर बने, ऐसी कथा गढ़ दी हो। जो कुछ भी हो, साम्प्रतकालीन दिगम्बर विद्वद्गण को भी क्रियाकलापकार प्रभाचन्द्र के विधान की सत्यता में श्रद्धा नहीं है। वरना वे सब उस पर बहुत ही जोर दिये बिना नहीं रहते^{१०}।

८) दिगम्बर दार्शनिक पंडित प्रभाचन्द्राचार्य से प्रायः सवा सौ साल पूर्व श्वेताम्बराचार्य सिद्धर्षि ने “स्तोत्र” शब्द के उदाहरण में भक्तामर को ही क्यों लिया, इसका एक मर्म यह भी हो सकता है कि वह उस कृति को अपने सम्प्रदाय में बनी हुई मानते होंगे। यदि वही किसी दिगम्बर कर्ता की रचना होती तो सिद्धर्षि उदाहरण शायद किसी और का, जैसे कि बप्पभट्टिसूरि, नन्दिषेण या सिद्धसेन दिवाकर की कृति का देते, भक्तामर का नहीं।

९) यह भी आश्चर्यजनक है कि मानतुंग जैसे प्रतिष्ठित आचार्य का शुभाभिधान बाद में, कम से कम मध्यकाल में, और मुनिवरों ने धारण किया हो, ऐसा दाखला दिगम्बर सम्प्रदाय में नहीं मिलता। यों तो वहाँ सिंहनन्दी, समन्तभद्र, प्रभाचन्द्र, पद्मनन्दी, अकलंक, कुमुदचन्द्र जैसे महान् आचार्यों के नाम बाद में बार-बार मिलते रहते हैं। उधर श्वेताम्बर सम्प्रदाय में ‘मानतुंग’ अभिधान धारण करने वाले मुनियों के अनेक उदाहरण हैं, जिस प्रकार वज्रसेन, पालित्त किंवा पादलिप्त, भद्रगुप्त, धर्मघोष, सिद्धसेन, जिनभद्र, हरिभद्र आदि प्राचीन प्रतिष्ठित आचार्यों के। (मध्यकालीन ‘मानतुंग’ आचार्यों की गुर्वावलियाँ हमने यहाँ टिप्पणी में रख दी है, वहाँ देखा जा सकता है^{११}।) भक्तामरकार मानतुंग ने यदि अपना सम्प्रदाय बदल ही दिया होता तो ११वीं से लेकर १४वीं-१५वीं शती तक जो ‘मानतुंग’ नामधारी मुनियों की श्रृंखला श्वेताम्बर सम्प्रदाय में मिलती है, वह शायद न मिल पाती। (तुङ्गान्त अभिधान वाले और भी नाम श्वेताम्बरों में मध्यकाल एवं उत्तर-मध्यकाल में मिलते हैं, जैसे कि विजयतुंग (ईस्वी १०वीं-११वीं शती), मेरुतुङ्ग (१३वीं-१४वीं शती), भुवनतुंग (१४वीं-१५वीं शती) इत्यादि^{१२}।)

स्तोत्रकर्ता दिगम्बर है ऐसा मानने के लिए कोई आंतरिक प्रमाण या बाह्य सबूत या विशिष्ट युक्ति हमारे सामने इस वक्त तो नहीं है, किन्तु एक तर्क यह भी हो सकता है, मानतुंगसूरि ‘यापनीय’ रहे हों या उत्तर तरफ के अचेल/क्षपणक संप्रदाय (जिन को श्वेताम्बर ईस्वी छठी शती से ‘बोटिक’ नाम से पहचानते थे) के और श्वेताम्बर तथा दिगम्बर इन दोनों को यह बात मालूम न रही हो। लेकिन स्तोत्रकार की क्षपणकता या यापनीयता सिद्ध करने वाला यँ तो कोई आंतरिक प्रमाण उपस्थित नहीं है।

क्रियाकलापकार प्रभाचन्द्र की कबूलात और सिद्धर्षि के स्तव के दृष्टान्त के रूप में भक्तामर का उल्लेख और ऊपर चर्चित सभी आन्तरिक प्रमाणों से वे श्वेताम्बर रहे होंगे, ऐसा ही निर्देश मिलता है। श्वेताम्बर से यापनीय को पृथक् करने वाले खास तो दो ही प्रमाण माने जाते हैं; मुनि का पूर्णतया नग्न रहने का सिद्धान्त एवं पाणितलभोजी रहना, और वह चर्या पर असाधारण, अत्यधिक ज़ोर, जिसका स्तोत्र में कहीं भी ज़िक्र नहीं है। जहाँ तक श्वेताम्बर न होने का कोई स्पष्ट प्रमाण न मिले, उपलब्ध प्रमाणों, निर्देशों एवं परोक्ष निष्कर्षों के आधार पर वे उत्तर की निर्ग्रन्थ परम्परा के श्वेताम्बर आमनाय में हो गये थे, ऐसा मानना तर्कसंगत होगा। फिलहाल इससे अधिक दृढ़ निर्णय करना संभव नहीं है।

टिप्पणियाँ :-

१. अजितकुमार शास्त्री, “भ० स्तो०,” अनेकान्त २.१, पृ० ७०.
२. देखिए अध्याय ४, पृ० ७७.
३. इन कृतियों के बारे में देखिए यहाँ आखिर में दी गई सन्दर्भसूची।
४. इसके अलावा और कोई आधार नज़र नहीं आता। इन सब साधनों के समय से पूर्व, पौर्णमिक मुनिरत्न का पीछे उद्धरण यहाँ सातवाँ अध्याय में दे चुके हैं। इससे अंदाज़ा लगा सकते हैं कि ईस्वी ११६९ में मानतुंग को कोई सातवाहन राजा (हाल?) के समकालीन माना जाता था। लेकिन सातवाहन युग में बोलबाला प्राकृत की थी, संस्कृत की नहीं। लगता है यह गलत मध्यकालीन मान्यता के आधार पर उत्तर-मध्यकालीन कर्ताओं ने मानतुंग को ईस्वी तीसरी शती का मान लिया हो।
५. “श्री तपागच्छ पट्टावली-सूत्र,” श्रीपट्टावली-परागसंग्रह, जालोर १९६६, पृ० १४०-१४१.
६. वही, पृ० १४१.
७. कहीं कहीं दिगम्बर-मान्य कृतियाँ में भी दो चामर की बात कही गई हो तो भी वे रचनाएँ मूलतः दिगम्बर थी या यापनीय उसका भी निर्णय हो जाना ज़रूरी है।
८. तीर्थकरो के ३४ अतिशयों की वर्णना में त्रिलोकप्रज्ञप्ति में “नभोगमन” का समाविष्ट किया गया है; ति० प०, भाग- १, सं० आ० ने० उपाध्ये एवं प्रा० हिरालाल जैन, जीवराज जैन ग्रन्थमाला क्रमांक-९, शोलापुर १९४३, गाथा ८९८, पृ० २६३, तथा देवागम अपरनाम आप्तमीमांसा, सं० जुगलकिशोर मुख्तार, द्वि० सं० १९७८, प्रथम श्लोक, पृ० १, श्लोक इस प्रकार है।

देवागम - नभोयान - चामरादि - विभूतयः ।

मायाविष्वपि दृश्यन्ते नातस्त्यमसि नो महान् ॥

९. कापड़िया, भक्तामर०, “भूमिका,” पृ० १९.
१०. प्रभाचन्द्र की क्रियाकलाप-टीका हमारे देखने में नहीं आयी है।
११. योगशास्त्र की प्रतिलिपी की प्रशस्ति सं० १२९२ (ईस्वी १२३६) अंतर्गत पट्टावली में दो मानतुंग के नाम आये हैं, जिन में से प्रथम का समय ईस्वी ११वीं शती उत्तरार्ध होने का अंदाज़ा हो सकता है।

(चन्द्रकुल)
 मानदेव
 मानतुंग (प्रथम)
 बुद्धिसागर
 पद्युम्न
 देवचन्द्र
 मानदेव पूर्णचन्द्र
 मानतुंग (द्वितीय)
 पद्मदेव

(सं० १२९२/ई० स० १२३६)

(देखिए *Catalogue of Palm-Leaf Manuscripts in the Santinatha Jain Bhandara, Cambay, Pt. 2, GOS No. 144, Baroda 1966, pp. 259-261.*)

बृहद्गच्छीय मानतुंग का उल्लेख मलयप्रभ की जयन्तीचरित्रटीका (सं० १२६०/ई० स० १२०४) जयन्ती प्रश्नोत्तर-संग्रह वा सिद्धजयन्ती की प्रशस्ति में मिलता है । यथा :

सर्वदेव
 जयसिंह
 चन्द्रप्रभ
 धर्मघोष
 शीलगण
 मानतुङ्ग
 मलयप्रभ

(सं० १२६०/ई० स० १२०४)

(हमें यह सूचना मोहनलाल दलीचंद देशाइ के जैन साहित्यनो संक्षिप्त इतिहास, मुंबई १९३२, पृ० ३४०, क्र० ४९४ से प्राप्त हुई है । जिनका आधार पीटर्सन रिपोर्ट ३.४५ था ।)

१२. भरुच से प्राप्त श० सं० ९३०/ईस्वी १००८ के धातु प्रतिमा लेख में नागेन्द्र कुल अंतर्गत विजयतुंगाचार्यगच्छ का उल्लेख हैं । देखिए U.P.Shah, "A Dated Jaina Bronze from Broach (Gujarat), fashioned by Artist Govinda" Lalit-Kalā 23, pp-19-20;

परिशिष्ट

मानतुंग की मुद्रा वाला एक और स्तोत्र भी है; प्रायः १४ वें शतक से लेकर इसे श्वेताम्बर सम्प्रदाय में भक्तामरकार मानतुंग की रचना मानी जाती है। स्तोत्र के अन्तर्गत पंचपरमेष्ठि का स्तुत्यात्मक उल्लेख होने से उसको पंचपरमेष्ठिस्तवन अभिहित किया गया है और चूँकि उसका प्रारम्भ 'भक्तिभर' शब्द से होता है इसलिए वह भक्तिभरस्तोत्र भी कहा जाता है^१। 'मानतुंग' मुद्रा वाला अन्तिम एवं प्रारंभ-का पद्य यहाँ सन्दर्भार्थ प्रस्तुत किया जाता है^२-

पंचनवकार थुत्तं लसेणं संसिअं अणुभावेणं ।
सिरि माणतुंग माहिंदमुज्जलं सिवसुहं दिंतु ॥३२॥

और

भक्तिभरअमरपणयं पणमिय परमिड्ढिपंचयं सिरसा ।
नवकारसारधवणं भणामि भव्वाणं भयहरणं ॥१॥

यूँ तो इस स्तुति को द्वात्रिंशिका कहना चाहिए था, परन्तु ३२वें पद्य के पश्चात् तीन और पद्य हैं, जो इसके श्रवण-पठन की महिमा रूपेण हैं^३।

प्रकाशक कापड़िया महोदय ने इस स्तोत्र पर कुछ भी विवेचन नहीं किया। यद्यपि उक्त प्रकाशन में से उन्होंने श्वेताम्बर सम्प्रदाय के अनुसार मानतुंग की मानी जाने वाली कृतियों में पूर्व की दो अतिरिक्त इस भक्तिभरस्तव को भी शामिल किया है^४, फिर भी वे खुद उसको आदिम मानतुंगाचार्य की रचना मानते थे या नहीं ऐसी कोई स्पष्टता वहाँ तो नहीं की है; किन्तु ग्रन्थांतरेण उनका जो कथन प्राप्त है, उससे कहा जा सकता है कि वे भी उस रचना को भक्तामरकार मानतुंग मुनीश्वर की रचना ही मानते थे^५।

स्तोत्र के अन्तरंग परीक्षण से तो पूर्णरूप से स्पष्ट हो जाता है कि वह भक्तामर-भयहरकार मानतुंग की रचना नहीं हो सकती। यह सामान्य कोटि की कृति है और उसमें अनेक स्थान पर मध्यकाल में ही संभवित वस्तु दृष्टिगोचर होती है, ऐसे लक्षण बड़ी संख्या में मिल जाते हैं। जैसा कि प्रथम पद्य में "नमुक्कार" या "नमोक्कार" की जगह "नवकार" शब्द का प्रयोग और "पंचक्खर-निप्फन्नो" जैसे कृत्रिम एवं अलाक्षणिक प्राकृत-शब्दगुच्छ इसके कर्ता प्राचीन काल के 'मानतुंग' होने का अपवाद करता है। निम्न उद्धृत पद्य-चरणों से बात स्पष्ट बन जायेगी :-

तिअलोअवसीकरणं मोहं सिध्धा कुणं तु भवणस्स ॥४॥

यावुच्चाऽनताडननिउणा साहू सया सरह ॥५॥

पंचक्खरनिप्फन्नो उँकारो पंचपरमिड्ढी ॥७॥

वट्टकला अरिहंता तउणा सिध्धा य लोटकल सूरि ॥१०॥

पण्णनिवहो ककाइ जेसिं बीओ हकार पजंतो ॥१३॥

कक्कड तुला य साहू दो दह शसी दु पंचपरमिट्ठी ॥२४॥

ति दुअणसामिणिवज्जा महमं तो मूलमंततंताइं ॥३०॥

स्तोत्र में उच्च कोटि का भक्तिरस नहीं है, न ही पूरे स्तोत्र में कहीं भी उदात्त भावाभिव्यक्ति। पंचपरमेष्ठि के आत्मिक गुणानुवाद भी नहीं। साहित्यिक गुणवत्ता भी सामान्य कोटि की ही हैं तथा भक्तामर एवं भयहर जैसी देदीप्यमानता भी नहीं। यह, सभी स्थान पर साधारण प्रकार की कल्पना के स्वामी एवं मंत्र-तंत्रादि में आस्था रखने वाले किसी अन्य ही, और मध्यकालीन, मानतुंग की रचना प्रतीत होती है, जो न बनी होती तो निर्ग्रन्थ स्तुत्यात्मक वाङ्मय रंक हो जाता ऐसा मानने के लिए बाध्य करने वाला एक भी कारण उपस्थित नहीं है। (इस विषय में कुछ हम पीछे भी, अध्याय ५ में, कह चुके हैं।) मध्यकाल, जिसमें ११वीं उत्तरार्द्ध से लेकर १३वीं १४वीं शती तक जो तीन-चार मानतुंग हो गये हैं, इनमें से किसी एक की यह रचना हो सकती है^६।

टिप्पणियाँ :-

१. कापड़िया, भक्तामर०, पृ० २३७-२३९.
२. वही, पृ० २३७, २३९.
३. वही, पृ० २३९.
४. वही, पृ० २३७, २३९.
५. कापड़िया, जैन संस्कृत साहित्य०, २, पृ० ३१३.
६. इस विषय में देखिये अध्याय ८, टिप्पणी ११. (१४वीं शतादी में मानतुंग नाम धारण करनेवाले कोई मुनि थे ऐसा सन्दर्भ देखा था।)

भक्तामरस्तोत्रम्

भक्तामरप्रणतमौलिमणिप्रभाणा-

मुद्द्योतकं दलितपापतमोवितानम् ।

सम्यक् प्रणम्य जिनपादयुगं युगादा-

वालम्बनं भवजले पततां जनानाम् ॥१॥

यः संस्तुतः सकलवाङ्मयतत्त्वबोधा-

दुद्भूतबुद्धिपटुभिः सुरलोकनाथैः ।

स्तोत्रैर्जगत्त्रितयचित्तहरैरुदारैः

स्तोष्ये किलाहमपि तं प्रथमं जिनेन्द्रम् ॥२॥

बुद्ध्या विनाऽपि विबुधार्चितपादपीठ !

स्तोतुं समुद्यतमतिर्विगतत्रपोऽहम् ।

बालं विहाय जलसंस्थितमिन्दुबिम्ब-

मन्यः क इच्छति जनः सहसा ग्रहीतुम् ? ॥३॥

वक्तुं गुणान् गुणसमुद्र ! शशाङ्ककान्तान्

कस्ते क्षमः सुरगुरुप्रतिमोऽपि बुद्ध्या ? ।

कल्पान्तकालपवनोद्धतनक्रचक्रं

को वा तरीतुमलमम्बुनिधिं भुजाभ्याम् ? ॥४॥

सोऽहं तथापि तव भक्तिवशान्मुनीश !

कर्तुं स्तवं विगतशक्तिरपि प्रवृत्तः ।

प्रीत्यात्मवीर्यमविचार्य मृगो मृगेन्द्रं

नाभ्येति किं निजशिशोः परिपालनार्थम् ? ॥५॥

अल्पश्रुतं श्रुतवतां परिहासधाम

त्वद्भक्तिरेव मुखरीकुरुते बलान् माम् ।

यत्कोकिलः किल मधौ मधुरं विरौति
 तच्चारुचूतकलिकानिकरैकहेतुः ॥६॥
 त्वत्संस्तवेन भवसंततिसन्निबद्धम्
 पापं क्षणात्क्षयमुपैति शरीरभाजाम् ।
 आक्रान्तलोकमलिनीलमशेषमाशु
 सूर्याशु-भिन्नमिव शार्वरमन्धकारम् ॥७॥
 मत्वेति नाथ ! तव संस्तवनं मयेद-
 मारभ्यते तनु-धियापि तव प्रभावात् ।
 चेतो हरिष्यति सतां नलिनीदलेषु
 मुक्ताफलद्युतिमुपैति ननूदबिन्दुः ॥८॥
 आस्तां तव स्तवनमस्तसमस्तदोषं
 त्वत्संकथापि जगतां दुरितानि हन्ति ।
 दूरे सहस्रकिरणः कुरुते प्रभैव
 पद्माऽऽकरेषु जलजानि विकासभाज्जि ॥९॥
 नात्यद्भुतं भुवनभूषण ! भूतनाथ !
 भूतैर्गुणैर्भुवि भवन्तमभिष्टवन्तः ।
 तुल्या भवन्ति भवतो ननु तेन किं वा
 भूत्याश्रितं य इह नात्मसमं करोति ? ॥१०॥
 दृष्ट्वा भवन्तमनिमेषविलोकनीयं
 नाऽन्यत्र तोषमुपयाति जनस्य चक्षुः ।
 पीत्वा पयः शशिकरद्युति दुग्धसिन्धोः
 क्षारं जलं जलनिधेरशितुं क इच्छेत् ? ॥११॥
 यैः शान्तरागरुचिभिः परमाणुभिस्त्वं
 निर्मापितस्त्रिभुवनैकललामभूत ! ।

तावन्त एव खलु तेऽप्यणवः पृथिव्यां
यत्ते समानमपरं न हि रूपमस्ति ॥१२॥

वक्त्रं क्व ते सुर-नरोग-नेत्र-हारि
निःशेषनिर्जितजगत्त्रितयोपमानम् ।
बिम्बं कलङ्कमलिनं क्व निशाकरस्य
यद्वासरे भवति पाण्डुपलाशकल्पम् ॥१३॥

संपूर्णमण्डलशशाङ्ककलाकलाप
शुभ्रा गुणास्त्रिभुवनं तव लङ्घयन्ति ।
ये संश्रितास्त्रिजगदीश्वर ! नाथमेकम्
कस्तान् निवारयति सञ्चरतो यथेष्टम् ? ॥१४॥

चित्रं किमत्र ? यदि ते त्रिदशाङ्गनाभि-
नीतं मनागपि मनो न विकारमार्गम् ।
कल्पान्तकालमरुता चलिताऽचलेन
किं मन्दराद्रिशिखरं चलितं कदाचित् ? ॥१५॥

निर्धूमवर्तिरपवर्जिततैलपूरः
कृत्स्नं जगत्त्रयमिदं प्रकटीकरोषि ।
गम्यो न जातु मरुतां चलिताचलानाम्
दीपोऽपरस्त्वमसि नाथ ! जगत्प्रकाशः ॥१६॥

नास्तं कदाचिदुपयासि न राहुगम्यः
स्पष्टीकरोषि सहसा युगपज्जगन्ति ।
नाम्भोधरोदरनिरुद्धमहाप्रभावः
सूर्यातिशायिमहिमाऽसि मुनीन्द्र ! लोके ॥१७॥

नित्योदयं दलितमोहमहान्धकारम्
गम्यं न राहुवदनस्य न वारिदानाम् ।

विभ्राजते तव मुखाब्जमनल्पकान्ति
विद्योतयज्जगदपूर्वशशाङ्कबिम्बम् ॥१८॥

किं शर्वरीषु शशिनाऽह्नि विवस्वता वा ?
युष्मन्मुखेन्दुदलितेषु तमस्सु नाथ !
निष्पन्नशालिवनशालिनि जीवलोके
कार्यं कियज्जलधरैर्जलभारनप्रैः ॥१९॥

ज्ञानं यथा त्वयि विभाति कृताऽवकाशं
नैवं तथा हरिहरादिषु नायकेषु ।
तेजः स्फुरन्मणिषु याति यथा महत्त्वं
नैवं तु काचशकले किरणाऽऽकुलेऽपि ॥२०॥

मन्ये वरं हरिहरादय एव दृष्टा
दृष्टेषु येषु हृदयं त्वयि तोषमेति ।
किं वीक्षितेन भवता भुवि येन नान्यः
कश्चिन् मनो हरति नाथ ! भवान्तरेऽपि ॥२१॥

स्त्रीणां शतानि शतशो जनयन्ति पुत्रान्
नान्या सुतं त्वदुपमं जननी प्रसूता ।
सर्वा दिशो दधति भानि सहस्ररश्मिं
प्राच्येव दिग्जनयति स्फुरदंशुजालम् ॥२२॥

त्वामामनन्ति मुनयः परमं पुमांस-
मादित्यवर्णममलं तमसः परस्तात् ।
त्वामेव सम्यगुपलभ्य जयन्ति मृत्युं
नान्यः शिवः शिवपदस्य मुनीन्द्र ! पन्थाः ॥२३॥

त्वामव्ययं विभुमच्चित्यमसंख्यमाद्यम्
ब्रह्माणमीश्वरमनन्तमनङ्गकेतुम् ।

योगीश्वरं विदितयोगमनेकमेकम्
 ज्ञानस्वरूपममलं प्रवदन्ति सन्तः ॥२४॥
 बुद्धस्त्वमेव विबुधार्चितबुद्धिबोधात्
 त्वं शंकरोऽसि भुवनत्रयशंकरत्वात् ।
 धाताऽसि धीर ! शिवमार्गविधेर्विधानात्
 व्यक्तं त्वमेव भगवन् ! पुरुषोत्तमोऽसि ॥२५॥
 तुभ्यं नमस्त्रिभुवनाऽर्तिहराय नाथ !
 तुभ्यं नमः क्षितितलाऽमलभूषणाय ।
 तुभ्यं नमस्त्रिजगतः परमेश्वराय
 तुभ्यं नमो जिन ! भवोदधिशोषणाय ॥२६॥
 को विस्मयोऽत्र ? यदि नाम गुणैरशेषै-
 स्त्वं संश्रितो निरवकाशतया मुनीश ! ।
 दोषैरुपात्तविविधाश्रयजातगर्वैः
 स्वप्नान्तरेऽपि न कदाचिदपीक्षितोऽसि ॥२७॥
 उच्चैरशोकतरुसंश्रितमुन्मयूख-
 माभाति रूपममलं भवतो नितान्तम् ।
 स्पष्टोल्लसत्किरणमस्ततमोवितानम्
 बिम्बं रवेरिव पयोधरपार्श्ववर्ति ॥२८॥
 सिंहासने मणिमयूखशिखाविचित्रे
 विभ्राजते तव वपुः कनकाऽवदातम् ।
 बिम्बं वियद्विलसदंशुलतावितानम्
 तुंगोदयाद्रिशिरसीव सहस्ररश्मेः ॥२९॥
 कुन्दावदातचलचामरचारुशोभं
 विभ्राजते तव वपुः कलधौत-कान्तम् ।

उद्यच्छशाङ्कशुचिनिर्झरवारिधार-
 मुच्चैस्तटं सुरगिरेरिव शातकौम्भम् ॥३०॥
 छत्रत्रयं तव विभाति शशाङ्ककान्त-
 मुच्चैः स्थितं स्थगितभानुकरप्रतापम् ।
 मुक्ताफलप्रकरजालविवृद्धशोभं
 प्रख्यापयत् त्रिजगतः परमेश्वरत्वम् ॥३१॥
 उन्निद्रहेमनवपङ्कजपुञ्जकान्ति
 पर्युल्लसन्नखमयूखशिखाऽभिरामौ ।
 पादौ पदानि तव यत्र जिनेन्द्र ! धत्तः
 पद्मानि तत्र विबुधाः परिकल्पयन्ति ॥३२॥
 इत्थं यथा तव विभूतिरभूज्जिनेन्द्र !
 धर्मोपदेशनविधौ न तथा परस्य ।
 यादृक् प्रभा दिनकृतः प्रहतान्धकारा
 तादृक् कुतो ग्रहगणस्य विकासिनोऽपि ? ॥३३॥
 श्च्योतन्मदाविलविलोलकपोलमूल
 मत्तभ्रमद्भ्रमरनादविवृद्धकोपम् ।
 ऐरावताभमिभमुद्धतमापतन्तम्
 दृष्ट्वा भयं भवति नो भवदाश्रितानाम् ॥३४॥
 भिन्नेभकुम्भगलदुज्ज्वलशोणिताक्त
 मुक्ताफलप्रकरभूषितभूमिभागः ।
 बद्धक्रमः क्रमगतं हरिणाधिपोऽपि
 नाक्रामति क्रमयुगाऽचलसंश्रितं ते ॥३५॥
 कल्पान्तकालपवनोद्धतवह्निकल्पं
 दावानलं ज्वलितमुज्ज्वलमुत्स्फुलिङ्गम् ।

विश्वं जिघत्सुमिव सम्मुखमापतन्तम्
त्वन्नामकीर्तनजलं शमयत्यशेषम् ॥३६॥

रक्तेक्षणं समदकोकिलकण्ठनीलं
क्रोधोद्धतं फणिनमुत्फणमापतन्तं ।
आक्रामति क्रमयुगेन निरस्तशङ्क-
स्त्वन्नामनागदमनी हृदि यस्य पुंसः ॥३७॥

वल्गात्तुरङ्गजगर्जितभीमनाद-
माजौ बलं बलवतामरिभूपतीनाम् ।
उद्यद्दिवाकरमयूखशिखाऽपविद्धं
त्वत्कीर्तनात्तम इवाशु भिदामुपैति ॥३८॥

कुन्ताग्रभिन्नगजशोणितवारिवाह
वेगावतारतरणातुरयोधभीमे ।
युद्धे जयं विजितदुर्जयजेयपक्षा
स्त्वत्पादपङ्कजवनाश्रयिणो लभन्ते ॥३९॥

अम्भोनिधौ क्षुभितभीषणनक्रचक्र-
पाठीनपीठभयदोल्बणवाडवाऽग्नौ ।
रङ्गत्तरङ्गशिखरस्थितयानपात्रा-
स्त्रासं विहाय भवतः स्मरणाद् व्रजन्ति ॥४०॥

उद्भूतभीषणजलोदरभारभुग्राः
शोच्यां दशामुपगताश्च्युतजीविताशाः ।
त्वत्पादपङ्कजरजोऽमृतदिग्धदेहाः
मर्त्या भवन्ति मकरध्वजतुल्यरूपाः ॥४१॥

आपादकण्ठमुरुशृङ्खलवेष्टिताङ्गा
गाढं बृहन्निगडकोटिनिघृष्टजङ्गाः ।

त्वन्नाममन्त्रमनिशं मनुजाः स्मरन्तः

सद्यः स्वयं विगतबन्धभया भवन्ति ॥४२॥

मत्तद्विपेन्द्र-मृगराज-दवानलाहि

सङ्ग्राम-वारिधि-महोदर-बन्धनोत्थम् ।

तस्याशु नाशमुपयाति भयं भियेव

यस्तावकं स्तवमिमं मतिमानधीते ॥४३॥

स्तोत्रस्रजं तव जिनेन्द्र ! गुणैर्निबद्धाम्

भक्त्या मया रुचिरवर्णविचित्रपुष्पाम् ।

धत्ते जनो य इह कण्ठगतामजस्रं

तं मानतुङ्गमवशा समुपैति लक्ष्मीः ॥४४॥

भक्तामरगत पाठान्तराणि

श्लोक	पंक्ति	पाठान्तर	पुस्तक
५.	३	मृगी	रतनलाल जैन जैन समाचार अधिपति
६.	४	तच्चाप्रचारु तच्चारु चाम्र	पन्नालाल (वसन्त) (सागर) जैन समाचार अधिपति
७.	२	क्षणाद् क्षणक्षयमुपैति	अमृतलाल शास्त्री पन्नालाल (वसन्त)
८.	२	प्रसादात्	कटारिया
	३	हरिष्यति	जैन समाचार अधिपति
१०	१	भुवनभूषणभूत ! नाथ !	गुणाकर सूरि
१४	३	जगदीश्वरनाथमेकं	अमृतलाल शास्त्री, पन्नालाल शास्त्री (वसन्त) जैन समाचार अधिपति, रसिकलाल कापड़िया
१६	१	रपिवर्जित	कटारिया
२०	३	तेजो महामणिषु	कटारिया, पन्नालाल जैन, पन्नालाल जैन सागर तेजो यथा व्रजति जात्यमणौ महत्त्वं हीरालाल कापड़िया काव्यसंग्रह (पाठान्तर)
२०	८	काचोद्भवेषु न तथैव विकासकत्वं शकलेषु स्याकुलेषु	कटारिया, कापड़िया, काव्यसंग्रह (पाठान्तर)
२३	२	पुरस्तात्	कापड़िया फुटनोट, जैन समाचार अधिपति पन्नालाल शास्त्री (वसन्त), पन्ना (सागर)
२३	२	पवित्रं	कटारिया, रतनलाल जैन
२५	१	विबुधाचिति ! बुधि	कापड़िया (पादटिप्पणी)
२६	३	त्रिजगती	कटारिया
२७	१	चित्रं किमत्र	कटारिया
२७	३	तविबुधाश्रय.	कापड़िया (पादटिप्पणी), कटारिया, दुर्गाप्रसाद शास्त्री

३१	२	प्रभावम् क्रमगतान्	रतनलाल जैन (पाठान्तर में) कटारिया, रतनलाल जैन (पाठान्तर में)
३९	३	क्रमगतान्	कटारिया, रतनलाल जैन (पाठान्तर में)
३९	४	चलसंश्रितास्ते चलसंश्रितास्ते	कटारिया रतनलाल जैन (पाठान्तर)
४१	१	नागदमनो	कटारिया
४२	२	बलवतामपि भूपतीनाम्	कापड़िया, जैन समाचार अधिपति
४३	३	स्मरंति	कटारिया
४४	१	चक्रे	कटारिया, दुर्गाशंकर शास्त्री (पाठान्तर)
४४	४	तव संस्मरणाद्	कटारिया, रतनलाल जैन (पाठान्तर)
४५	१	भग्नः मग्नः	कापड़िया पाठान्तर, रतनलाल जैन (पाठान्तर) दुर्गाप्रसाद शास्त्री (पाठान्तर)
४५	४	सद्यः सद्यो	कटारिया रतनलाल जैन (पाठान्तर)
४६	४	नाथ !	कटारिया
४७	३	तस्य प्रणाश	कटारिया, पन्नलाल सणर (वसन्त)(पाठान्तर)
४७	४	यस्तेऽनिशं	कटारिया
४८	२	रुचिर	कटारिया

भयहरस्तोत्रम्
अपर नाम
नमिऊण स्तोत्रम्

नमिऊण पणयसुरगण-चूडामणिकिरणरंजिअं मुणिणो ।
चलणजुअलं महाभय-पणासणं संधवं बुच्छं ॥१॥

नत्वा प्रणतसुरगणचूडामणिकिरणरञ्जितं मुनेः ।
चरणयुगलं महाभयप्रणाशनं संस्तवं वक्ष्ये ॥

सडियकरचरणनहमुह-निबुड्डुनासा विवन्नलायत्रा ।
कुट्टमहारोगानल-फुलिंगं निद्वृद्धं सव्वंगा ॥२॥

शटितकरचरणनखमुखनिमग्रनासा विपन्नलावण्याः ।
कुष्ठमहारोगानलस्फुलिङ्गनिर्दग्धसर्वाङ्गाः ॥

ते तुह चलणाराहण-सलिलंजलिसेयवुद्धियच्छाया ।
वणदवदद्वागिरिपा यव व्व पत्ता पुणो लच्छिं ॥३॥

ते तव चणाराधनसलिलाञ्जलिसेकवर्धितच्छायाः ।
वनदवदग्धा गिरिपादपा इव प्राप्ताः पुनर्लक्ष्मीम् ॥

दुव्वायखुभियजलनिहि उब्भडकल्लोलभीसणारावे ।
संभंतभयविसंठुल-निज्जामयमुक्कवावारे ॥४॥

दुर्वातक्षुभिते जलनिधौ उद्भटकल्लोलभीषणारावे ।
सम्भ्रान्त भयविसंस्थुल निर्यामकमुक्तव्यापारे ॥

अविदलिअजाणवत्ता खणेण पावंति इच्छिअं कूलं ।
पासजिणचलणजुअलं निच्चं चिअ जे नमंति नरा ॥५॥

अविदलितयानपात्राः क्षणेन प्राप्नुवन्ति ईप्सितं कूलम् ।
पार्श्वजिनचरणयुगलं नित्यमेव ये नमन्ति नराः ।

खरपवणुद्धयवणदव-जालावलिमिलियसयलदुमगहणे ।
डज्झंतमुद्धमयवहु-सणरवभीसणंमि वणे ॥६॥

खरपवनोद्धूतयनदवज्वालावलिमर्दितसकलद्रुमगहने ।
दह्यमानमुग्धमृगवधूभीषणरवभीषणे वने ॥

जगगुरुणो कमजुअलं निव्वाविसयलतिहुअणाभोअं ।
जे संभरंति मणुआ न कुणइ जलणो भयं तेसिं ॥७॥

जगद्गुरोः क्रमयुगलं निर्वापितसकलत्रिभुवनाभोगम् ।
ये संस्मरन्ति मनुजा न करोति ज्वलनो भयं तेषाम् ॥

विलसंतभोगभीषण-फुरिआरुणनयणतरलजीहालं ।
उगभुअंगं नवजलय-सत्थहं भीसणायारं ॥८॥

विलसद् भोगाऽभीषणस्फुरितारुणनयनतरलजिह्वालम् ।
उग्रभुजङ्गं नवजलदसदृशं भीषणाकारम् ॥

मत्रंति कीडसरिसं दूरपरिच्छुद्धविसमविसवेगा ।
तुह नामक्खरफुडसिद्धमंतगरुआ नरा लोए ॥९॥

मन्यन्ते कीटसदृशं दूरपरिक्षिप्तविषमविषवेगाः ।
तव नामाक्षरस्फुट सिद्धमन्त्रगुरुका नरा लोके ॥

अडवीसु भिल्ल-तक्कर-पुलिंद-सहुलसद्भीमासु ।
भयविहुरवुन्नकायर-उल्लुरियपहियसत्थासु ॥१०॥

अटवीसु भिल्ल-तस्कर-पुलिन्द-शार्दूलशब्दभीमासु ।
भयविह्वलविषण्णाकातरोल्लुण्ठितपथिकसार्थासु ॥
अविलुत्तविहवसारा तुह नाह ! पणाममत्तवावारा ।
ववगयविग्घा सिग्घंपत्ता हिय इच्छियं ठाणं ॥११॥

अविलुप्तविभवसाराः तव नाथ ! प्रणाममात्रव्यापाराः ।
व्यपगतविघ्नाः शीघ्रं प्राप्ता हृदयेप्सितं स्थानम् ॥

पज्जलिआणलनयणं दूरवियारिअमुहं महाकायं ।
नहकुलिसघायविअलिअ-गइंदकुंभत्थलाभोअं ॥१२॥

प्रज्वलितानलनयनं दूरविदारितमुखं महाकायम् ।
नखकुलिशघातविदलितगजेन्द्रकुम्भस्थलांभोगम् ॥

पणयससंभमपत्थिव-नहमणिमाणिक्कपडिअपडिमस्स ।
तुह वयणपहरणधरा सीहं कुद्धंपि न गणंति ॥१३॥

प्रणतससम्भ्रमपार्थिवनखमणिमाणिक्यपतितप्रतिमस्य ।
तव वचनप्रहरणधराः सिंहं क्रुद्धमपि न गणयन्ति ॥

ससिधवलदंतमुसलं दीहकरुल्लालवुड्डिउच्छाहं ।
महुपिंगनयणजुअलं ससलिलनवरंजलहरायारं ॥१४॥

शशिधवलदन्तमुसलं दीर्घकरोल्लालवर्धितोत्साहम् ।
मधुपिङ्गनयनयुगलं ससलिलनवजलधराकारम् ।

भीमं महागड्दं अच्चासन्नं पि ते न विगणंति ।
जे तुम्ह चलणजुअलं मुणिवड् ! तुंगं समल्लीणा ॥१५॥

भीमंमहागजेन्द्रं अत्यासन्नमपि ते न विगणयन्ति ।
ये तव चरणयुगलं मुनिपते ! तुङ्गं समालीनाः ॥

समरम्मि तिक्खखग्गा-भिग्घायपविद्धउद्धुयकबंधे ।
कुंतविणिभिन्नकरिकलह-मुक्कसिक्कारपउरंमि ॥१६॥

समरे तीक्ष्णखड्गाभिघातप्रेरितोद्धुतकबन्धे ।
कुन्तविनिर्भिन्नकरिकलभमुक्तसीत्कारप्रवरे ॥

निज्जिअदप्पुद्धर रिउनरिंदनिवहा भडा जसं धवलं ।
पावंति पावपसमिण ! पासजिण ! तुहप्पभावेण ॥१७॥

निर्जितदर्पोद्धुरिपुनरेन्द्रनिवहा भटा यशोधवलम् ।
प्राप्नुवन्ति पापप्रशमन ! पार्श्वजिन ! तव प्रभावेण ॥

रोग-जल-जलण-विसहर-चोरारि-मड्द-गय-रण-भयाड् ।
पासजिणनामसंकित्तणेण पसमंति सब्वाड् ॥१८॥

रोग-जल-ज्वलन-विषधर-चौरारि-मृगेन्द्र-गज-रण-भयानि ।
पार्श्वजिननामसङ्गीर्तनेन प्रशाम्यन्ति सर्वाणि ॥

एवं महाभयहरं पासजिणिंदस्स संधवमुआरं ।
भविअजणाणंदयरं कल्लाणपरंपरनिहाणं ॥१९॥

एवं महाभयहरं पार्श्वजिनेन्द्रस्य संस्तवमुदारम् ।
भविकजनानन्दकरं कल्याणपरम्परानिधानम् ॥

रायभय-जक्ख-रक्खस-कुसुमिण-दुस्सउण-रिक्खपीडासु ।
संझासु दोसु पंथे उवसग्गे तह य रयणीसु ॥२०॥

राजभय-यक्ष-राक्षस-कुस्वप्न दुःशकुन-ऋक्षपीडासु ।
सुध्ययोः द्वयोः पथि उपसर्गे तथा च रजनीषु ॥

जो पठति जो अ निसुणइ ताणं कइणो य माणतुंगस्स ।
पासो पावं पसमेउ, सयलभुवणच्चियचलणो ॥२१॥

यः पठति यश्च निश्रुणोति तयोः कवेश्च मानतुङ्गस्य ।
पार्श्वः पापं प्रशमयतु सकलभुवनार्चितचरणः ॥

सन्दर्भ ग्रन्थ-सूची

(१) साम्प्रतकालीन लेखक

(अ) भारतीय (हिन्दी / गुजराती / संस्कृत)

- (१) आनन्दसागरसूरि सागरसमाधान भाग १, (गुजराती), आवृत्ति बीजी, सुरत वि० सं० २०२८ (ईस्वी १९७२), पृ० २८६-२८८. (प्रथमावृत्ति का समय हमें मालूम नहीं है। उस वक्त सूरिजी का अभिधान बाद के सागरानन्दसूरि के बजाय शायद आनन्दसागर रहा हो।)
- (२) उपाध्याय बलदेव संस्कृत साहित्य का इतिहास, प्रथम भाग, काव्य-खण्ड, दशम संस्करण, वाराणसी १९७८.
- (३) कटारिया, रतनलाल जैन निबन्ध रत्नावली, ले० श्री मिलापचन्द्र कटारिया (व) श्री रतनलाल कटारिया, श्री वीर शासक संघ, कलकत्ता-वाराणसी १९६६, पृ० ३३४-३४२, “भक्तामर स्तोत्र” तथा वही ग्रन्थ, ‘परिशिष्ट’, पृ० ४३८.
- (४) कल्याणविजयमुनि (१) श्री प्रभावक चरित (गुजराती भाषान्तर), श्री जैन आत्मानंद ग्रन्थमाला नं० ६३ भावनगर वि० सं० १९८७ (ईस्वी १९३१), “प्रबंधपर्यालोचन” पृ० ६८-७० तथा, “मानतुंगसूरि प्रबन्ध” पृ० १७२-१८३.
- (२) पट्टावली-परागसंग्रह, द्वितीय परिच्छेद, जालोर १९६६, पृ० १४०-१४१.
- (५) कापड़िया, हीरालाल रसिकदास (१-२) भक्तामरस्तोत्रपादपूर्तिरूपकाव्यसंग्रह प्रथम विभाग, तथा द्वितीय विभाग, आगमोदय समिति, मुंबई १९२६, १९२७.
- (३) “स्तुति स्तोत्रोनुं पर्यालोचन” (गुजराती), जैनयुग, वैशाख १९८३ (ई० सं० १९२७), पृ० ४४६-४५०.
- (४) स्तुति-चतुर्विंशतिका, कर्ता शोभनमुनि, आगमोदय समिति, सुरत १९२७.
- (५) भक्तामरकल्याणमन्दिरनमिउणस्तोत्रत्रयम्, श्रेष्ठि देवचन्द लालभाई जैन पुस्तकोद्धार फंड श्रेणी, ग्रन्थांक ७९, सुरत

१९३२.

- (६) Descriptive Catalogue of Manuscripts in the Government Manuscripts Library, Vol. XIX, Sec I, Hymnology, Bhandarkar Oriental Research Institute, Poona 1962, pp. 2-27.
- (७) जैन संस्कृत साहित्यनो इतिहास, खण्ड २, धार्मिक साहित्य, उपखंड १, ललित साहित्य (गुजराती), श्री मुक्ति-कमल-जैन-मोहनमाला: पुष्प ६४, वडोदरा १९६८, प्र० २७, “श्रव्य काव्यो”, स्तुति-स्तोत्रो, पृ० ३१३-३१९ तथा प्र० ३१ “श्रव्य काव्यो”, (अ)जैन कृतिओनी पादपूर्ति, भक्तामर-स्तोत्रनी पादपूर्तिरूप काव्यो [२२], पृ० ४३४-४४०.
- (६) चतुरविजयमुनि जैन स्तोत्रसन्दोह (प्राचीन-स्तोत्र-संग्रह), द्वितीयो भाग, अहमदाबाद १९३६, ‘प्रस्तावना’ (गुजराती), पृ० १२-१४.
- (७) चौधरी, डा० गुलाबचन्द्र जैन साहित्य का बृहद् इतिहास, भाग ६, पार्श्वनाथ विद्याश्रम ग्रन्थमाला, २०, वाराणसी १९७३, “प्रस्तावना,” पृ० ५६१-५७०.
- (८) जैन, डा० ज्योतिप्रसाद (१) “भक्तामरस्तोत्र की श्लोक संख्या,” जैन संदेश, शोधांक २९, भाग ४१, संख्या ४०, ‘शोधकण’ ३, मथुरा, फरवरी १९७१, पृ० २१८-२२०.
- (२) “प्रस्तावना,” सचित्र-भक्तामर-रहस्य (सं० पं० कमलकुमार जैन शास्त्री ‘कुमुद’), बृहद् संस्करण, दिल्ली १९७७, पृ० १८-४०.
- (९) जैन, हीरालाल ‘कौशल’ “संपादकीय,” भक्तामरस्तोत्र, (दिल्ली १९५६), पृ० ९-२६.
- (१०) त्रिपाठी, डा० रुद्रदेव (१) भक्तामररहस्य (गुजराती), (सं० पं० धीरजलाल टोकरशी शाह), अहमदाबाद १९७१, ‘पंचमो खण्ड, काव्य समीक्षा’ (गुजराती), पृ० ३८७-४०८.
- (२) “भक्तामर स्तोत्र समीक्षात्मक सर्वेक्षण” (गुजराती), जैनरत्नचिंतामणि, सं०, नन्दलाल बी० देवलुक, श्री अरिहंत प्रकाशन, भावनगर १९८५, पृ० ८४७-८५१.
- (११) त्रिपुटी मुनि (१) “श्री भक्तामर स्तोत्र” (गुजराती), जैन सत्य प्रकाश, वर्ष

- ८, ई० स० १९४२, अंक १, पृ० २५-२८.
- (२) जैन परम्परानो इतिहास, (गुजराती), खण्ड १, वि० सं० २००८ (वीर सं० २४७९), ई० स० १९५२, पृ० ३६२-३६८.
- (१२) दर्शनविजय मुनि “दिगम्बर शास्त्र कैसे बने ? प्रकरण ११ आ० श्री मानतुंग सूरि” (हिन्दी), जैन सत्य प्रकाश, पु० २, अंक १०, १९३७, पृ० ५१६-५१८.
- (१३) देसाइ, मोहनलाल दलिचंद जैन साहित्यनो संक्षिप्त इतिहास, मुंबई १९३२.
- (१४) पं०, दुर्गाप्रसाद और परब, “श्रीमानतुङ्गाचार्य विरचितं भक्तामरस्तोत्रम्” (संस्कृत), काव्यमाला, सप्तम गुच्छक, निर्णय सागर प्रेस, बम्बई १८९६, पृ० १-१०.
- (१५) नवाब, साराभाई मणिलाल “भक्तामर स्तोत्र,” गुजराती, पूर्वाचार्य विरचित महाप्रभाविक नवस्मरण, श्री जैन प्राचीन साहित्योद्धार ग्रन्थावली पुष्प ६, अमदाबाद १९३८, पृ० ३१५-४५९.
- (१६) नाहटा, अगरचन्द (१) “भक्तामरस्तोत्र के श्लोकों की संख्या ४४ या ४८?” (हिन्दी), श्रमण, वर्ष २१, अगस्त १९७०, अंक १००, पृ० २७-३१.
- (२) “भक्तामरस्तोत्र के पादपूर्तिरूप स्तवकाव्य” (हिन्दी), श्रमण, वर्ष २१, सितम्बर १९७०, अंक ११, पृ० २५-२९.
- (३) “भक्तामर के ४-४ अतिरिक्त पद्य” (हिन्दी), जैन संदेश, शोधांक २९, मथुरा १९७१, पृ० १९९-२०२.
- (४) “भक्तामर कल्याणमन्दिर उभय पादपूर्ति-रूप पार्श्वनाथ स्तोत्र” (हिन्दी), जैन सिद्धान्त भास्कर, भाग ३२, किरण २, आरा दिसम्बर १९७९, पृ० १०-१५.
- (५) “भक्तामर स्तोत्र और वैदिक स्तुतियों का तुलनात्मक अध्ययन आवश्यक” (हिन्दी), सन्मति वाणी, वर्ष ८, अंक ११, इन्दौर मई १९७९, पृ० २१-२२.
- (१७) प्रजापति, डा० मणिभाई इ० “जैन साहित्यमां अद्भुत एवं स्तोत्र साहित्य” (गुजराती), जैनरत्नचिंतामणि, सं० नन्दलाल बी० देवलुक, श्री अरिहंत प्रकाशन, भावनगर १९८५, पृ० ६८४-६९३.

- (१८) प्रेमी, पं० नाथूराम “प्रस्तावना” भक्तामरस्तोत्र, जैनग्रन्थरत्नाकरकार्यालय, बम्बई १९१६, तथा जैन साहित्य और इतिहास, बम्बई १९५६.
- (१९) मुखतार, पं० जुगलकिशोर जैन साहित्य और इतिहास पर विशद प्रकाश, कलकत्ता १९५६.
- (२०) शास्त्री, अजितकुमार जैन (१) “भक्तामरस्तोत्र” (हिन्दी), अनेकान्त, वर्ष-२, किरण १, न्यू दिल्ली वि० सं० १९९५ (ईस्वी १९३८), पृ० ७०-७९.
(२) “परिचय” (हिन्दी), भक्तामरस्तोत्र, सं० हीरालाल जैन ‘कौशल’, दिल्ली १९५६, पृष्ठ २७-३३.
- (२१) शास्त्री, पं० अमृतलाल “भक्तामरस्तोत्रम्,” राजविद्यामन्दिर प्रकाशन-१, द्वितीय संस्करण, वाराणसी १९६९.
- (२२) शास्त्री, डा० नेमिचन्द्र (१) “आचार्य मानतुंग” (हिन्दी), अनेकान्त, वर्ष २८, किरण ६, फरवरी १९६६, पृ० २४२-२४७.
(२) संस्कृत काव्य के विकास में जैन कवियों का योगदान (हिन्दी), ज्ञानपीठ मूर्तिदेवी ग्रन्थमाला : हिन्दी ग्रन्थांक १४, दिल्ली १९७१, पृ० ५००-५०४.
(३) “कवीश्वर मानतुंग”, (हिन्दी), भारतीय संस्कृति के विकास में जैन-वाङ्मय का अवदान, (प्रथम खण्ड), सागर १९८२, पृ० २११-२१८.
- (२३) शाह, पं० धीरजलाल टोकरशी भक्तामररहस्य, पहलो खण्ड, “प्रास्ताविक” (गुजराती), मुंबई १९७१, पृ० ३-६५.
- (२४) शाह, पोपटलाल केवलचन्द्र “भक्तामरस्तोत्र अने श्री मानतुंगाचार्य” (गुजराती), जैनयुग, पुस्तक ४, वि० सं० १९८५ (ई० सं० १९२९), अषाढ-श्रावण, अंक ११-१२, पृ० ४७७-४७९.
- (२५) शाह, रमणलाल ची० “भक्तामरस्तोत्र-केटलाक प्रश्नो” (गुजराती), प्रबुद्ध जीवन, मुंबई १६-४-८७, पृ० २०३-२०४, २०६.
- (आ) भारतीय (अंग्रेजी)
1. Upadhye, A. N. *Siddhasena's Nyāyāvatāra and Other Works*, Bombay 1971.
 2. Bhattacharya, D. C. “An Unknown form of Tārā” in *The Śakticult And Tārā* (Ed. D.C. Sirkar), Calcutta 1967, pp. 134-142.

3. Dhavalikar, M. K. "The origin of Tārā," *Bulletin of the Deccan College*, Re, INST, Vol XXIV, Poona 1963-64, pp. 14-20.
4. Mitra, Debala. "Ashtamahābhaya-Tārā," *Journal of the Asiatic Society*, Letters and Science, Vol. XXIII, No. 1. Calcutta 1957, pp. 19-22 & Plates I-III.
5. Sen Gupta, R. "A sculptural Representation of the Buddhist Litany at Ellora," *Bulletin of the Prince of Wales Museum of Western India*, Vol. 5, (1955-57), Bombay, pp. 12-15.
6. Shah, U. P. (1) "Evolution of Jaina Iconography and Symbolism", *Aspects of Jaina Art*, Eds. U. P. Shah and M. A. Dhaky, Ahmedabad 1975. pp. 49-74, Figs. 1-28.
(2) "A dated Jaina Bronze from Broach (Gujarat), fashioned by Artist Govinda", *Lalit Kala*, 23, pp. 19-20.
7. Yaždani, G. *The Rock-Hewn Temples of Aurangabad : Their Sculpture and Architecture*, London 1937, Fig. 6.

(इ) विदेशी लेखक (अंग्रेजी-जर्मन लेखन)

1. Jacobi, Hermann (I) *Indische Studien*, 14, 1876, p. 359.
(II) 'Foreward' in the *Bhaktāmara, Kalyāna-mandira and Namiṇa Stotratrayam*, (Ed. H. R. Kapadia), Surat 1932, pp. I. VIII.
2. Keith, A. Berriedale, *A History of Sanskrit Literature*, Reprint, London 1962, pp. 214-215.
3. Winternitz, Maurice, *A History of Indian Literature*, vol, II, "Buddhist and Jain Literature" sec. ed, reprint, Delhi 1977, pp. 549-551.
4. Glassenpp, Helmuth Von *Der jainismus*, Berlin 1925; Eng-Ver. *Jainism*, trans. S. B. Shrotri, Delhi 1998.

(२) मानतुङ्ग सम्बद्ध मौलिक प्रबन्धात्मकादि साहित्य

- (१) प्रभावक चरित (कर्ता राजगच्छीय प्रभाचन्द्राचार्य), सं० जिनविजय मुनि, सिंधी जैन ग्रन्थमाला, ग्रन्थाङ्क १३, अहमदाबाद-कलकत्ता १९४०, "मानतुंगसूरिचरित," पृ० ११२-११७.
- (२) प्रबन्धचिंतामणि (कर्ता नागेन्द्रच्छीय मेरुतुंगाचार्य), सं० जिनविजय मुनि, सिंधी जैन ग्रन्थमाला, ग्रन्थाङ्क १, शान्तिनिकेतन १९३३,

“मानतुंगाचार्य-प्रबन्ध,” पृ० ४४-४५.

- (३) पुरातन प्रबन्ध संग्रह सं० जिनविजय मुनि, सिंधी जैन ग्रन्थमाला, ग्रन्थाङ्क २, कलकत्ता १९३६, “श्रीमानतुंगाचार्यप्रबन्ध,” पृ० १५-१६.
- (४) भक्तामरस्तोत्र विवृति (कर्ता रुद्रपल्लीय गुणाकर सूरि), सं० हीरालाल रसिकदास कापड़िया, भक्तामरकल्याणमन्दिरनमिउणस्तोत्रत्रयम्, श्रेष्ठि देवचन्द लालभाई जैन पुस्तकोद्धार ग्रन्थाङ्क ७९, सूरत १९३२.

(३) पट्टावलियाँ

- (१) श्री पट्टावलीसमुच्चय प्रथम भाग, सं० मुनि दर्शनविजय, वीरमगाम १९३३.
- (२) श्री पट्टावली समुच्चय भाग बीजो, सं० मुनि श्री ज्ञानविजय, अमदाबाद १९५०.
- (३) विविधगच्छीय पट्टावली संग्रह प्रथम भाग, सं० जिनविजय मुनि, सिंधी जैन ग्रन्थमाला, ग्रन्थाङ्क ५३, बम्बई १९५३.
- (४) गुर्वावली (कर्ता मुनि सुन्दरसूरि), श्री यशोविजय ग्रन्थमाला(४), काशी वि० सं० २४३१ (ई० सं० १९०४).

(४) आगम और आगमिक साहित्य (कालक्रमानुसारेण)

- (१) दशवैकालिकसूत्र दसवेयालियसुत्तं, उत्तराञ्जयणाइं, आवस्सयसुत्तं, सं० पुण्यविजय मुनि, श्री महावीर जैन विद्यालय जैन आगम ग्रन्थमाला, ग्रन्थांक १५, मुंबई १९७७.
- (२) उत्तराध्ययनसूत्र वही.
- (३) ऋषिभाषितानि इसिभासियाइं, Ed. Walther Schubring, L. D. Series 45, Ahmedabad 1974.
- (४) स्थानांगसूत्र ठाणंग सुत्तं समवायांग सुत्तं च, सं० मुनि जम्बूविजय, श्री महावीर जैन विद्यालय, जैन आगम ग्रन्थमाला, ग्रन्थांक ३, मुंबई १९८५.
- (५) समवायांगसूत्र वही.
- (६) औपपातिक सूत्र आगमोदय समिति, मुंबई १९९६.
- (७) आवश्यकनिर्युक्ति (भाग १-२), मुंबई वि० सं० २०३८ (ई० सं० १९८२).
- (८) विशेषावश्यकभाष्य (कर्ता जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण), द्वितीय भाग, सं० दलसुख मालवणिया, लालभाई दलपतभाई श्रेणि, क्रमांक १४, अहमदाबाद १९३८, पृ० ३४१.
- (९) आवश्यकचूर्णि सं० आनन्दसागर सूरि, रतलाम १९२८, पृ० ३२५-३२६.

- (१०) सूयगडंग सुत्तं
(निर्युक्ति चूर्णि सहिता) प्रथमो भाग, प्राकृत ग्रन्थ परिषद, ग्रन्थांक १९, अहमदाबाद, वाराणसी १९७५.
- (११) त्रिलोकप्रज्ञप्ति तिलोयपण्णत्ती, भाग १, सं० आ० ने० उपाध्ये / हिरालाल जैन, जीवराज जैन ग्रन्थमाला, ग्रन्थांक १, शोलापुर १९४३, पृ० २६४-२६५.
- (१२) उपदेशमाला (वृत्ति सहिता) (कर्तासंघदास गणी, वृत्तिकर्ता सिद्धर्षि), मूल : सं० मुनिचन्द्रविजय, मुंबई १९९१.
- (१३) धर्मोपदेशमाला विवरण (कर्ता कृष्णर्षिशिष्य जयसिंहसूरि, सिंधी जैन ग्रन्थमाला [ग्रन्थांक २८] सं. लालचंद्र भगवानदास गांधी, मुंबई १९४९.
- (१४) प्रवचनसारोद्धार (कर्ता नेमिचन्द्र सूरि), सं० वज्रसेनविजय, अहमदाबाद १९९२, पृ० १९९.

(५) गुप्तकालीन, अनुगुप्तकालीन और प्राक्-मध्यकालीन आगमेतर साहित्य
(कालक्रमानुसारेण)

- (१) पउमचरिय (कर्ता नागेन्द्रकुलीन विमलसूरि), मूल सं० हर्मन्त्र यकॉबी, सं० मुनि पुण्यविजय, प्राकृत ग्रन्थ परिषद, ग्रन्थांक ६, वाराणसी १९६२, पृ० ११-१२, ३२.
- (२) वसुदेवहिंडी (वसुदेवचरित) (कर्ता संघदास गणी), सं० मुनि चतुरविजय / मुनि पुण्यविजय, श्री आत्मानन्द जैन ग्रन्थमाला, रत्न ८०, भावनगर १९३०, पृ० ३४१.
- (३) कुवलयमालाकहा (कर्ता उद्योतन सूरि), भाग १, सं० आ० ने० उपाध्ये, सिंधी जैन शास्त्र शिक्षापीठ, मुंबई १९५९, पृ० ९७.
- (४) हरिवंशपुराण (कर्ता पुत्राटसंघीय जिनसेन), सं० पन्नालाल जैन, ज्ञानपीठ मूर्तिदेवी जैन ग्रन्थमाला, संस्कृत ग्रन्थांक २७, दिल्ली-वाराणसी १९७८, पृ० १८३, पृ० ११४-११८.
- (५) आदिपुराण (कर्ता पञ्चस्तूपान्वयी भगवज्जिनसेन), प्रथम भाग, द्वितीय संस्करण, भारतीय ज्ञानपीठ मूर्तिदेवी जैन निर्ग्रन्थमाला, संस्कृत ग्रन्थांक ८, सं० पन्नालाल जैन, काशी १९६३, पृ० ५४२-५४९.
- (६) चउपन्नमहापुरिसचरिय (कर्ता निर्वृतिकुलीन शीलाचार्य), सं० पं० अमृतलाल मोहनलाल भोजक, प्राकृत ग्रन्थ परिषद ग्रन्थांक ३, वाराणसी १९६१.

(६) स्तुतिस्तोत्रादि साहित्य

- (१) द्वात्रिंशद् द्वात्रिंशिका (कर्ता सिद्धसेन दिवाकर), सं० विजयसुशीलसूरि, अहमदाबाद १९७७.
- (२) चण्डीशतक (कर्ता बाणभट्ट), काव्यमाला गुच्छक ४, सं० पंडित दुर्गाप्रसाद और काशीनाथ पांडुरंग परब, मुंबई १९३७.
- (३) सद्धर्मपुण्डरीक (१) *Saddharmapundarika-sūtra*, Buddhist Sanskrit Texts-No.6, Ed. P. L. Vaidya, Darbhanga 1960.
(२) वही, विहार-राष्ट्रभाषा-परिषद, पटना १९६७.
- (४) सूर्यशतक (कर्ता मयूर कवि), (व्या० रमाकान्त त्रिपाठी), विद्याभवन संस्कृत ग्रन्थमाला १०६, वाराणसी १९६४, तथा मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, पुनर्मुद्रण १९८३.
- (५) स्तुतिविद्या (कर्ता समन्तभद्र) सं० पं० जुगलकिशोर मुख्तार, सरसावा वि० सं० २००७ (ई० सं० १९५१).
- (६) स्वयम्भूस्तोत्र (कर्ता समन्तभद्र), सं० जुगलकिशोर मुख्तार, 'युगवीर', वीर-सेवामन्दिर, सरसावा १९५१.
- (७) स्रग्धरास्तोत्र (कर्ता यशोमित्र), आर्यतारास्रग्धरास्तोत्रम्, सं० जनार्दन शास्त्री पाण्डेय, इलाहाबाद १९९५.

(७) स्तुतिस्तोत्रादि समुच्चय ग्रन्थों

- (१) क्रिया-कलाप सं० पन्नलाल सोनी-शास्त्री, आगरा वि० सं० १९९३ (ई० सं० १९३७).
- (२) जैनस्तोत्रसंग्रह भाग-१, यशोविजय ग्रन्थमाला, वाराणसी वी०सं० २०३२ / ईस्वी १९०५; द्वितीय भाग, द्वितीयावृत्ति, वाराणसी वी० सं० २४३९ / ईस्वी १९१७.
- (३) जैनस्तोत्रसन्दोह भाग-१, सं० मुनि चतुरविजय, प्राचीन (जैन) साहित्योद्धार-ग्रन्थावली, प्रथम पुष्प, अहमदाबाद १९३२.
- (४) जैनस्तोत्रसन्दोह (मन्त्राधिराज चिन्तामणि) भाग-२, सं० मुनि चतुरविजय, अहमदाबाद १९३६.
- (५) श्रीसप्तस्मरणस्तवः श्रीजिनदत्तसूरिप्राचीनपुस्तकोद्धारफण्ड (सूरत), ग्रन्थाङ्क :- (४६), सूरत १९४२.

- (६) प्रथमगुच्छक श्री दिगम्बर जैन ग्रंथभंडार काशी, प्र० पन्नालाल चौधरी, काशी वि० सं० १९८२.
- (७) स्तुति तरंगिणी संस्कृत भाग २, सं० विजयभद्रंकरसूरि, मद्रास वि० सं० २०४३ (ई० सं० १९८७).
- (८) स्तुति तरंगिणी भाग ३, सं० विजयभद्रंकरसूरि, मद्रास वि० सं० २०३९ (ई० सं० १९८३).
- (९) यति क्रिया संग्रह सं० मैनाबाइ जैन, नागपुर १९८२.
- (१०) हुम्बुज-श्रमण-सिद्धान्त पाठावलि सं० आर्यिका कुलभूषणमति, श्री दिगम्बर जैन कुन्थु विजय ग्रन्थमाला समिति, पुष्प ४, जयपुर १९८२.
- (११) श्री विमलभक्ति संग्रह श्री स्याद्वाद विमल ज्ञानपीठ, पुष्प २७, सोनागिर.

(८) प्रकीर्ण

- (१) कालिदास-ग्रन्थावली सं० रेवाप्रसाद द्विवेदी, वाराणसी १९८६.
- (२) समाधि-शतक सं० राउजी नेमचंद शाह, द्वितीय संस्करण, अलिगंज १९६२.
- (३) अज्ञातकर्तृक प्रबन्ध-चतुष्टय सं० रमणीयक म० शाह, अहमदाबाद १९९४.
- (४) अममस्वामिचरित (कर्ता पूर्णिमागच्छीय मुनिरत्नसूरि), सं० विजयकुमुद सूरि, अमदावाद वि० सं० १९९८ (ई० सं० १९८२)
- (५) सित्तुंज-कप्पो (कर्ता तपागच्छीय धर्मघोष गणि), सं० लाभविजय गणि, आगमोद्धारग्रन्थमाला, रत्न ४१, कपडवंज वि० सं० २०३६, (ई० सं० १९७०).
- (६) पार्श्वनाथ चरित्र (कर्ता खंडिलगच्छीय भावदेव सूरि), सं० पं० हरगोविंददास पं० बेचरदास, श्री यशोविजयजैनग्रन्थमाला ३२ वाराणसी वि० सं० २४३८ (ईस्वी १९११).
- (७) हीरसौभाग्य महाकाव्य (कर्ता तपागच्छीय देवविमल सूरि), सं० पं० शिवदत्त और पं० काशीनाथ शर्मा, कालन्त्री वि० सं० २०४१ (ईस्वी १९८५).
- (८) सिद्धान्तसारादिसंग्रहः सं० पं० पन्नालाल सोनी, माणिकचन्द्र-दिगम्बर-जैन ग्रन्थमाला, ग्रन्थ २१, बम्बई वि० १९७९ (ईस्वी १९२३).

